प्रकाशक

मार्तंड उपाध्याय

मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल

नई दिल्ली

पहली बार : १९५९

मूल्य

दो रुपये

मुद्रक

सुरेंद्र प्रिंटर्स प्रा० लि०

दिल्ली

प्रकाशकीय

हिंदी के अधिकांश पाठक इस पुस्तक के लेखक से अवश्य परिचित होंगे। हमारे स्वाधीनता-संग्राम के एक अग्रणी सेनानी होने के अतिरिक्त पत्रकार-जगत को उनकी महत्वपूर्ण देन रही है और उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना भी की है।

अपने पूज्य पिता स्वामी श्रद्धानंदजी के कारण उन्हें बचपन से ही देश के गण्य-मान्य व्यक्तियों को देखने और उनसे मिलने का अवसर मिला था। बाद में जब वह स्वयं आजादी की लड़ाई में कूदे, तो एक सैनिक के नाते और साथ ही एक पत्रकार एवं लेखक के नाते वह देश के प्रमुख राजनेताओं तथा हिंदी के लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकारों के संपर्क में आये। इस पुस्तक के संस्मरण लेखक के उसी सूक्ष्म तथा सहृदय अध्ययन के परिणाम हैं।

इन संस्मरणों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें किसी प्रकार की औपचारिकता नहीं है। लेखक ने जिसे जैसा देखा, बड़े ही स्वाभाविक रूप में उसे वैसा ही चित्रित कर दिया है। इसलिए इन रचनाओं में बड़ी ही सहजता तथा स्वाभाविकता है।

अपने संस्मरणों के लिए लेखक ने किसी विशेष दल, धर्म अथवा क्षेत्र के व्यक्तियों को नहीं चुना। उनकी व्यापक सहृदयता ने जिस किसी व्यक्ति में गुणों का दर्शन किया, उसीपर उन्होंने लेखनी चलाई। हमें खेद है कि उनके सारे संस्मरणों को इस पुस्तक में देना संभव नहीं हो सका, फिर भी पाठक देखेंगे कि इस संग्रह में काफी वैचित्र्य रखा गया है—राजनीतिज्ञ, साहित्यकार, समाज-सेवी सभी इसमें आ गये हैं।

हमें विश्वास है कि इस पुस्तक से पाठकों को अनेक महापुरुषों के जीवन की सूक्ष्म झांकी मिलेगी, साथ ही कुछ नई बातें भी उन्हें ज्ञात होंगी।

आशा है, यह पुस्तक हिंदी-जगत में बड़े चाव से पढ़ी जायगी।

—मंत्री

प्राक्कथन

मैंने अबतक जितने संस्मरण लिखे हैं, उनमें से कोई भी 'इंटर-व्यू' के आधार पर नहीं लिखा। मेरा विचार रहा है कि किसी व्यक्ति के चरित्र-निर्माण के लिए उससे योजनापूर्वक बातचीत करना बहुत ही अविश्वसनीय साधन है। चित्रकार यदि केवल एक जड़ 'मॉडल' बनाना चाहता है, तो चित्रणीय व्यक्ति को कुरसी पर बिठाकर उसका चित्रण कर सकता है, परंतु यदि वह उसका चेतन चित्र बनाना चाहता है, तो उसे ऐसे क्षण की प्रतीक्षा करनी होगी, जब वह अपनी स्वाभाविक मुद्रा में हो, और अधिक अच्छा होगा कि असावधान हो। मैंने अपने संस्मरणों में स्मरणीय व्यक्तियों का जो चित्रण किया है, वह ऐसे ही क्षणों में प्राप्त किये अनुभवों पर आधारित है। आशा है, पाठक इन संस्मरणों को पढ़ते हुए इस बात का ध्यान रखेंगे कि ये शब्द-चित्र चलते-फिरते लिये गये हैं, स्टूडियो में परदे के सामने खड़े करके नहीं।

इस संग्रह में संगृहीत संस्मरणों में से अधिकांश सामयिक पत्रों में प्रकाशित हो चुके हैं। उन्हें पढ़कर कुछ मित्रों ने मुझसे शिकायत की है कि मैंने उनमें नायकों के गुण-ही-गुण दिखाये हैं, दोष एक भी नहीं दिखाया। मेरा उत्तर यह है कि इन संस्मरणों के लिखने का प्रयोजन इन महानुभावों का गुण-दोष-विवेचन नहीं, अपितु उनकी उन विशेषताओं का प्रदर्शन करना है, जिनके कारण वे राष्ट्र के लिए उपयोगी सिद्ध हुए और जिनके कारण ही प्रत्येक भारतीय उनका ऋणी है। यों यदि पाठक संस्मरणों को ध्यान से पढ़ेंगे, तो उन्हें बीच-बीच में वर्णनीय नर-चंद्रमाओं के धब्बों का आभास भी मिल जायगा। परंतु मेरी प्रार्थना है कि पाठक राष्ट्र के इन संस्मरणीय पुष्पों के गुण-रूपी रस के भौंरे ही बनें।

—इंद्र

विषय-सूची

१.	लोकमान्य तिलक	६
२.	बापू	१७
३.	पंडित मोतीलाल नेहरू	२३
४.	हकीम अजमल खां	३२
५.	पंडित मदनमोहन मालवीय	३८
६.	लाला लाजपतराय	५२
७.	डॉक्टर अन्सारी	६०
८.	बाबू शिवप्रसाद गुप्त	७०
९.	सरदार वल्लभभाई पटेल	७८
१०.	मौलाना अबुलकलाम आजाद	८६
११.	नेताजी सुभाषचंद्र बोस	६४
१२.	मिस्टर आसिफ़अली	१०१
१३.	उपन्यास-सम्राट प्रेमचंदजी	१०८
१४.	देवदास गांधी	११७
१५.	मेरे पिता	१२२

मैं इनका ऋणी हूं

: १ :

लोकमान्य तिलक

जव सूरत के अधिवेशन में नरम और गरम दलों की जोरदार टक्कर से राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन टूट-फूट गया था, मैं गुरुकुल विद्यालय की नवीं कक्षा में पढ़ता था। उन दिनों श्रीमाधवराव सप्रे के संपादकत्व में नागपुर से हिंदी 'केसरी' प्रकाशित होता था। हमारे आचार्य पंडित गंगादत्तजी शास्त्री की कृपा से हमें हर सप्ताह हिंदी 'केसरी' के लेख पढ़ने को मिल जाते थे। सूरत की घटना पर लोकमान्य ने जो अद्‌भुत प्रभावशाली लेख लिखे थे, उन्होंने हम छात्रों के हृदयों को मोह लिया था। हम उन्हें पढ़-सुनकर लोकमान्य के ऐसे कट्टर चेले होने का दावा करने लगे थे कि शायद पूना में उनके सीधे प्रभाव में रहनेवाले हमारे दावे के सामने मात खा जाते। हम संसार के हो-हल्ले और संघर्ष से वहुत दूर जंगल में पड़े हुए भी मन-ही-मन गरम-दलिये वन गये थे और लोकमान्य को अपना नैतिक गुरु मानने लगे थे। सूरत की घटना में हम नरम दल को सर्वथा दोषी और गरम दल को सर्वथा निर्दोष मानते थे। विद्यार्थी जीवन में हमारी यह दशा थी, तो अनुमान लगाया जा सकता है कि जब स्नातक बनकर मैं पूना गया और पहली वार लोकमान्य के दर्शनों की इच्छा से 'केसरी'-कार्यालय में पहुंचा, तो मेरे मन में उत्सुकता की लहरें कैसे वेग से उठ रही होंगी। समाचार-पत्रों और दीवारों पर लोकमान्य के चित्र तो वहुत देखे थे, परंतु कल्पना में जो चित्र बना रखा था, वह उनसे मेल नहीं खाता था। मानसिक चित्र में लोकमान्य वहुत विशालकाय और अन्य साधारण-जनों से कुछ अलग ही दिखाई दिया करते थे। उनके दर्शनों के लिए गायकवाड़ वाड़ा में पहुंचकर मैं और मेरे साथी बड़ी उल-झन में पड़ गये। लोकमान्य कुछ अन्य मित्रों के साथ खाना खाकर वाहर

आ रहे थे। चार या पांच सज्जन थे। सबके रेशमी धोती का परिधान था, गले में ब्राह्मणोचित लंबा जनेऊ था, सिर पर महाराष्ट्र की प्रसिद्ध बृहदाकार शिखा थी। उनमें से लोकमान्य को पहचानना बहुत कठिन हो रहा था। यदि हमारे साथी महाशय कृपा करके यह न बता देते कि जो सज्जन अधिक हंसते और मजाक करते हुए आ रहे हैं, वह ही तिलक हैं, तो सचाई पर न पहुंच सकते। यह बात हम नवयुवकों की कल्पना से बाहर थी कि सूरत के कांग्रेस मंच पर चट्टान की तरह अड़नेवाले लोकमान्य हंस भी सकते हैं और मजाक भी कर सकते हैं। यह थे लोकमान्य के अनौपचारिक दर्शन। मैंने प्रणाम किया, लोकमान्य ने आशीर्वाद दिया और यह प्रथम दर्शन समाप्त हो गया।

दूसरी बार जो दर्शन हुआ, वह सर्वथा भिन्न परिस्थितियों में हुआ। लखनऊ में १९१६ में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ था, कई दृष्टियों से वह बहुत महत्वपूर्ण था। सूरत में कांग्रेस का जो अंग-भंग हुआ, ९ वर्षों तक उसकी चिकित्सा न हो सकी। भारत की राष्ट्रीय सेना सर्वथा बिखरी रही। अनुकूल अवसर पाकर सरकार ने लोकमान्य को मांडले के किले में बंद कर दिया और नरम दल के नेता कांग्रेस को कन्वेन्शन का बाना पहनाकर वार्षिक अधिवेशन का रिवाज पूरा करते रहे। इसी बीच श्रीमती एनी बेसेंट ने होमरूल का आंदोलन आरंभ करके राष्ट्र के मूर्च्छित शरीर में चेतना उत्पन्न करने का यत्न किया, जो थोड़ा-बहुत सफल हो गया। उसी सफलता का एक यह भी अंश था कि राष्ट्रभक्तों में आपसी फूट को मिटाकर कांग्रेस को फिर से राष्ट्र-भर की महत्त्वाकांक्षा का प्रतिनिधि बनाने का संकल्प उत्पन्न हुआ। लखनऊ का सम्मिलित कांग्रेस अधिवेशन राष्ट्रभक्तों के उस संकल्प का परिणाम था। उस अधिवेशन के रंगमंच की निराली ही शान थी। बड़े-से-बड़े नरम और गरम कहलानेवाले नेता ९ वर्षों के पश्चात कंधे-से-कंधा भिड़ाकर वेदी पर विराजमान थे और उनके भाषण सुनने के लिए सहस्रों देशवासी निस्तब्ध शांति से पंडाल में विद्यमान थे। उपस्थित सदस्यों को सबसे अधिक उत्सुकता कांग्रेस के मंच पर लोकमान्य तिलक के दर्शनों की थी। बीच के वर्षों में लोकमान्य युवक देशभक्तों की दृष्टि में नेता की पदवी से उठकर देवता

की पदवी पा चुके थे। उनकी तपस्या की कथाएं सुन-सुनकर भारतीय जनता का हृदय उनकी ओर बड़े वेग से आकृष्ट हो गया था। फलतः जब मंडप में "तिलक महाराज की जय" का निनाद सुनाई दिया, तब शायद ही कोई सदस्य अपनी कुरसी पर बैठा रहा हो। सब लोग खड़े हो गये और जयकार का नाद तबतक पंडाल में गूंजता रहा, जबतक लोकमान्य अपने आसन पर न बैठ गये। उस समय मेरी क्या मनोदशा थी, उसका वर्णन करते हुए पत्र में मैंने लिखा था :

"मैं अधिक भावुक प्राणी नहीं हूं, तो भी मैं उस समय भावुकता की पराकाष्ठा तक पहुंच गया था। यदि सभापति का अथवा लोकमत का भय न होता, तो अपने स्थान से उठकर अवश्य ही तिलक महाराज के चरण पकड़ लेता। जब वह आसन पर आसीन हो गये, तब मैं बहुत देर तक उनकी ओर टकटकी लगाकर देखता रहा। उनके मुख-मंडल पर असाधारण बुद्धि, गंभीरता और तपश्चर्या के चिह्न स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहे थे। थोड़ी देर तक उनके शांत चेहरे को देखने से यह प्रतीत होने लगता था कि हम सचमुच एक क्रांतिकारी को देख रहे हैं। माथे पर विचार की रेखाएं थीं, आंखें चेतन और स्थिर थीं, होंठ दृढ़ता से मिले हुए थे और मुद्रा स्तब्ध थी, मानो क्रांति का शरीर-धारी पुतला हो।"

यह थी मेरी उस समय की भावना। उसके पश्चात तो मैंने लोकमान्य को कई दशाओं में देखा—हंसते हुए भी देखा, मराठी शैली में व्यंग-पूर्ण उपहास करते हुए भी देखा और महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों की तरह केवल धोती पहनकर भोजन करते भी देखा। वे उनके मानवीय रूप थे। परंतु कांग्रेस के उस अधिवेशन में जबतक वह बोलने के लिए नहीं खड़े हुए, तबतक मैं उन्हें केवल क्रांतिकारी नेता के रूप में देखता रहा।

मंडल में उपस्थित जनता लोकमान्य का व्याख्यान सुनने के लिए उतावली हो रही थी। कई अन्य भाषणों के पश्चात जब वह बोलने के लिए खड़े हुए, तो लगभग पांच मिनट तक निरंतर जयकार ध्वनि से मिश्रित तालियों की गड़गड़ाहट से मंडप गूंजता रहा। उन पांच मिनटों

का मूल्य आंकने के लिए यह स्मरण कर लेना आवश्यक है कि उस समय कांग्रेस पढ़े-लिखे वकीलों, डाक्टरों और रईसों की सभा थी, अभी उसमें जनता-जनार्दन का प्रवेश नहीं हुआ था।

तिलक न तो सुरेंद्रनाथ बनर्जी की तरह धुंआधार शब्द-जाल फैलानेवाले वक्ता थे, न गोखले की भांति आंकड़ों के सूखे अस्थि-पंजर में भावुकता का रुधिर संचार करनेवाले चतुर संसद-सदस्य थे। वह सीधी-सादी जोरदार भाषा में अपने हृदय के उन भावों को प्रकाशित कर देते थे, जो उन्हें और उनके देशवासियों को एकाकार कर देते थे। उनके शब्दों में स्वर या तार की तड़प नहीं होती थी, हृदय की तड़प होती थी, जो जनता को विह्वल कर देती थी। वह थोड़े-से परिमित शब्दों में श्रोताओं को अनुभव करा देते थे कि विदेशी शासन के नीचे रहना सबसे बड़ा पाप और अभिशाप है और प्रत्येक भारतवासी का कर्तव्य है कि वह देश की स्वाधीनता के लिए सर्वस्व न्योछावर करने के लिए अग्रसर हो। लखनऊ के उस भाषण में विशेष स्मरणीय वह वाक्य था, जो उन्होंने कांग्रेस के दोनों दलों के एक मंच पर आने के संबंध में कहा था। मेल का स्वागत करते हुए उन्होंने कहा, "यह संतोष की बात है कि यह सौभाग्य अब लखनऊ को प्राप्त हुआ है कि दोनों दल यहां मिल गये।"

बहुत समीप से और देर तक लोकमान्य के दर्शनों का अवसर मुझे बाद में मिला, जब होमरूल आंदोलन के प्रसंग में वह दिल्ली पधारे। उनके साथ श्री केलकर आदि कुछ अन्य नेता भी थे। मैं उन दिनों प्रांतीय कांग्रेस कमेटी का अन्यतम अधिकारी था। स्वागत-सत्कार की व्यवस्था का बहुत-सा काम मेरे सुपुर्द था। शिष्टमंडल के निवास की व्यवस्था चांदनी चौक फव्वारे के समीप एक धर्मशाला में की गई थी। वहां का प्रबंध मुख्य रूप से दिल्ली के व्यापारी मंडल के हाथ में था। दो-तीन बार भोजन के समय सेवा करने का अवसर मुझे भी मिला। मंडल के प्रायः सभी महाराष्ट्रीय सदस्य रेशमी धोती पहनकर अलग-अलग, परंतु एक पंक्ति में बैठकर भोजन करते थे। उस समय उनमें परस्पर बेतकल्लुफी की बातचीत और हंसी-मजाक का सिलसिला बराबर जारी रहता था। सभी महानुभाव लोकमान्य का आदर करते

थे, परंतु व्यंग-प्रयोग और सभ्य छेड़-छाड़ में कोई भेदभाव नहीं रखा जाता था। अपने-आपको अपने अनुयायियों की सतह पर ले आने में लोकमान्य को पूरी कुशलता प्राप्त थी।

सायंकाल चार घोड़ों की गाड़ी पर लोकमान्य का जलूस निकला। उस समय तक चार घोड़ों की गाड़ी ही दिल्ली की रोल्स रॉयेस थी। वस्तुतः जो शान उस घोड़ागाड़ी में थी, वह रोल्स रॉयेस में कहां ? वह गाड़ी शाही थी, यह ठहरी व्यापारी !

जलूस शहर के बड़े-बड़े बाजारों में से होकर गुजरा। शायद ही नगर की कोई स्वयंसेवक मंडली हो, जिसने जलूस में भाग न लिया हो। उन दिनों 'इंद्रप्रस्थ सेवक मंडली' का बहुत जोर था। शहर के पुराने और प्रतिष्ठित नागरिक सिपाहियाना वेश में स्वयंसेवकों की पंक्ति में खड़े होते थे। ऐसे लगभग ३०० स्वयंसेवक जलूस में भाग ले रहे थे। स्थान-स्थान पर मान्य अतिथियों का फूलों, मालाओं और पान-सुपारी से सत्कार किया गया, अनेक उपहार भेंट किये गये। मैंने अपने सार्वजनिक जीवन में शायद सैकड़ों के जलूस देखे हैं और उनके मुख्य पात्रों का अनुशीलन किया है ; जनता के जयकारों और सत्कारों का मुख्य पात्रों पर जो असर होता है, उसका भी बुद्धि के अनुसार निरीक्षण किया है। लोगों का अतिशय अभिनंदन पाकर कुछ महानुभाव अत्यंत प्रसन्नता प्रकट करते हैं। उनके मुख पर निरंतर मुस्कराहट और संतोष झलकते रहते हैं। कुछ ऐसे महानुभाव हैं, जो अभिनंदन में सक्रिय भाग भी लेते हैं। वे आई हुई मालाओं को जनता पर फेंकते हैं और भीड़ के रोष और हर्ष से प्रभावित होते हैं। लोकमान्य उन दोनों से भिन्न थे। वह अनासक्ति-योग के शरीरधारी रूप थे। सारे जलूस में वह केवल हाथ जोड़कर लोगों के नमस्कार का उत्तर देते रहे—न एक बार भी मुस्कराये, न झल्लाये। उनकी मुद्रा को देखकर अनुभव होता था कि वह उस सारी भीड़ और हलचल में केवल भारत की दुखी जनता की पुकार सुन रहे हैं, उनका मन किसी गहरे विचार में डूबा हुआ है और सारा प्रदर्शन उन्हें खोखला प्रतीत होता है। सारी शोभायात्रा में लोकमान्य उसी गंभीर और दृढ़ मुद्रा में बैठे रहे, जिसमें मैंने उन्हें लखनऊ के कांग्रेस के रंगमंच पर देखा था। सूक्ष्मता

से देखनेवाले को स्पष्टता से अनुभव हो रहा था कि उस क्रांतिकारी नेता के हृदय में केवल एक स्थायी भाव है, और वह है, देश की स्वाधीनता का. शेष सब भाव उसमें विलीन हो गये हैं।

जलूस की समाप्ति पर पाटौदी हाउस (दरियागंज) के मैदान में सार्वजनिक सभा का आयोजन हुआ। मुख्य वक्ता लोकमान्य थे। वह अंग्रेजी में बोले। उन्होंने सरल और स्पष्ट शब्दों में जनता के हृदयों पर यह अंकित कर दिया कि देश के सब वर्तमान दुखों का मूल कारण विदेशी राज्य है और उसे उखाड़कर फेंक देने का अवसर अभी है। उन्होंने मिस्र आदि अन्य देशों के दृष्टांत देकर बतलाया कि यदि इस समय हम लोग चूक गये, तो पीछे बहुत पछताना पड़ेगा। लोकमान्य का तपस्वी व्यक्तित्व, हृदय का दृढ़ विश्वास और सरल तथा स्पष्ट भाषा—सबका सम्मिलित प्रभाव अत्यंत गहरा हुआ। दिल्ली के उस समय के आरामपसंद नागरिकों को उस दिन के जलूस और भाषण ने मानो झटका देकर उठा दिया।

लोकमान्य के अंतिम दर्शन हुए अमृतसर-कांग्रेस के समय। इन दर्शनों का मुझपर जो प्रभाव पड़ा, उसका अनुमान लोकमान्य के अमृतसर पहुंचने पर शहर में निकाले गये जलूस के संबंध में लिखी गई इस पंक्ति से किया जा सकता है :

"मैंने जलूस तो सैकड़ों देखे, परंतु उतना असली और जीवित उत्साह मुझे शायद ही किसीमें मिला हो।"

लगभग चालीस साल के बलिदानमय जीवन ने तिलक महाराज का भारतवासियों के हृदयों में वह स्थान बना दिया था, जो पुराने देवी-देवताओं का बन जाया करता है। बहुत-से पंजाबियों ने इससे पूर्व लोकमान्य के दर्शन नहीं किये थे। वे यह तो जानते थे कि तिलक नाम का एक स्वाधीनता का देवता है, जिसकी पूजा करनी चाहिए। उन्हें दर्शनों का पहला ही अवसर मिला था। पूजा का यह दुर्लभ अवसर पाकर उनके वर्षों से भरे हुए अरमान फूट पड़े। बाजारों में नरमुंड-ही-नरमुंड दिखाई देते थे। हरएक व्यक्ति "तिलक महाराज की जय" के नारों से आकाश को फोड़ रहा था। उस जलूस ने कांग्रेस के अन्य सारे कार्यक्रम को मात दे दी थी। उस समय मेरे और मुझ-जैसे सैकड़ों दर्शकों को यह निश्चय-

सा हो गया था कि कांग्रेस के अधिवेशन में तिलक महाराज के सामने कोई नेता न ठहर सकेगा। जो प्रस्ताव वह पेश करेंगे, वही स्वीकार किया जायगा।

लोकमान्य तिलक के उस जलूस की अनेक स्मरणीय चीजों में से एक विशेष चीज स्वयं लोकमान्य की गंभीर मुद्रा थी, जो प्रत्येक बारीकी से देखनेवाले दर्शक पर प्रभाव उत्पन्न करती थी। चारों ओर कोलाहल का तूफान उमड़ रहा था। फूलों और मालाओं से गाड़ी भर गई थी। स्थान-स्थान पर गाड़ी रोककर आरती की जा रही थी और भक्त लोग तरह-तरह की भेंट देकर भक्ति का प्रदर्शन कर रहे थे। चारों ओर यह सब-कुछ था, परंतु लोकमान्य तिलक की मूर्ति मानो निश्चल होकर बैठी थी। जनता के कोलाहल से उनके चेहरे पर न विक्षोभ की झलक दिखाई देती थी, न जनता के सत्कार-प्रदर्शन से होठों पर मुस्कराहट दौड़ती थी। उनके गंभीर तेजस्वी नेत्र और स्थिर निश्चल होठ न तूफान में हिलते थे और न प्रभात के पवन से खिलते थे। उनमें मातृभूमि की पराधीनता की भावना मानो फौलाद बनकर बैठ गई थी। जब उन्हें मांडले के जेल में अपनी जीवन-संगिनी पत्नी की मृत्यु का समाचार मिला और उनके आंसू नहीं निकले, तो किसीने पूछा, "ऐसे दुखद समाचार से आपके आंसू क्यों नहीं निकले?" इस प्रश्न का लोकमान्य ने यह चिरस्मरणीय उत्तर दिया था, "मेरे पास बहाने के लिए कोई आंसू नहीं बचे, मैं उन सबको अपनी मातृभूमि के लिए बहा चुका हूं।" प्रतीत होता है कि वे आंसू अपने साथ होठों की मुस्कराहट को भी बहा ले गये थे। सार्वजनिक रूप में तिलक महाराज के पास न आंसू थे और न मुस्कराहट। वहां थी केवल कठोर कर्तव्य की भावना, जिसका पालन करने में वह किसी एक क्षण के लिए भी नहीं हिचकिचाये। लोकमान्य तिलक का चेहरा एक क्रांतिकारी का आदर्श चेहरा था, वहां प्रिय-अप्रिय की कोई भावना नहीं थी। केवल धर्म के पालन की दृढ़ प्रतिज्ञा थी। कांग्रेस के मंच पर वैसा दृढ़ क्रांतिकारी चेहरा न उन दिनों दिखाई देता था, और न अब दिखाई दिया है। हां, उसकी थोड़ी-सी झलक सरदार वल्लभभाई पटेल के चेहरे पर दिखाई देती थी।

सब जानते थे कि लोकमान्य तिलक अड़नेवाले आदमी थे। जीवन-

भर उन्होंने विरोधी शक्तियों का सीधे खड़े होकर मुकाबला किया, कभी लेशमात्र भी झुकने का नाम नहीं लिया। पर अमृतसर में पहली बार वह समझौते के लिए तैयार हो गये। यह देखकर लोकमान्य के कुछ शिष्यों को दुख और आश्चर्य हुआ। वे लोग तिलक महाराज की सेवा में पहुंचे और जिज्ञासा की कि महाराज, आप समझौता क्यों करते हैं, खुले अधिवेशन में आपकी जीत निश्चित है। इस जिज्ञासा का लोकमान्य ने जो उत्तर दिया, उसके पूरे शब्द तो मुझे याद नहीं, परंतु अभिप्राय मेरे हृदय पर बड़ी स्पष्टता से अंकित है। उन्होंने कहा, "मैं अब शारीरिक दृष्टि से वृद्ध हो गया हूं। मुझे जो कुछ कहना था, वह कह चुका हूं। अब आवश्यक है कि देश का नेतृत्व दूसरे हाथों में जाय। वह व्यक्ति, जिसके हाथों में मुझे नेतृत्व सम्हालने की शक्ति दिखाई देती है, गांधी है। इसी कारण मैंने गांधी का संशोधन स्वीकार कर लिया है। देश की बागडोर अब उसीके हाथ में जायगी।"

उस समय लोकमान्य तिलक के उस कथन से उनके भक्तों को पूरा संतोष नहीं हुआ था, परंतु समय ने बतलाया कि लोकमान्य तिलक को उनके भक्त जितना बड़ा समझते हैं, वह उससे बहुत बड़े थे। वह महाविद्वान थे और भविष्यवक्ता भी थे। जब खुले पंडाल में लोकमान्य के तथा महात्मा-जी के भाषणों के पश्चात प्रस्ताव स्वीकार हुआ, तब सारा पंडाल "महात्मा-गांधी की जय" के नारों से गूंज उठा। उस जयनाद के कोलाहल में कांग्रेस का एक युग समाप्त हो रहा था, दूसरा युग जन्म ले रहा था। तिलक-युग पर विराम-चिह्न लग रहा था, गांधी-युग का सूत्रपात हो रहा था।

लोकमान्य के मेरे लिए अंतिम दर्शन यही थे।

: २ :

बापू

महात्मा गांधी का वर्तमान भारत और भारतवासियों के जीवन में क्या स्थान था, उसका अनुभव अब हो रहा है, जब महात्माजी का भौतिक शरीर पृथ्वी पर से प्रयाण कर गया है। भारत के आकाश में और उसके हजारों शायद लाखों देशवासियों के हृदयों में सर्वथा शून्य-सा रह गया है। किस क्रम और किन कारणों से गांधीजी उस ऊंचे पद तक पहुंचे, इसका विवेचन करना ना-समझी का परिचय देना है। कम-से-कम वह पिष्ट-पेषण तो है ही। जबतक सूर्य आकाश में रहता है. हम कहते हैं कि दिन है। जब वह अस्त हो जाता है, तो हर एक व्यक्ति जान लेता है कि एक प्रकाश-पुंज था, जो चला गया और अपने पीछे अंधकार का एक आवरण छोड़ गया, जिसे दूर करने के लिए अनेक ज्योतियां जलाई जाती हैं। आज भारतवासियों को कुछ ऐसा ही अनुभव हो रहा है। महात्माजी की जिन विशेषताओं ने उन्हें देश के अंतरिक्ष में सूर्य का स्थान दिया, उन सबका यदि एक शब्द में वर्णन करना हो, तो वह शब्द था 'बापू'। गत पचास वर्षों में धीरे-धीरे वह देशवासियों में से प्रत्येक के बापू बन गये थे। 'प्रत्येक' में सभी धर्म, सभी श्रेणियां और सभी तरह के राजनैतिक विचार आ जाते हैं। जो लोग गांधीजी से मतभेद रखते थे, उनके हृदय में भी गांधीजी 'बापू' के रूप में ही विद्यमान थे।

बापू के संबंध में मेरे संस्मरण बहुत बिखरे हुए हैं। वे लगभग ३० वर्षों में फैले हुए हैं। मुझे अधिक समय तक महात्माजी के पास रहने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। मेरी और विशेष रूप से मेरी पत्नी की वर्षों तक यह इच्छा रही कि अन्य झंझटों से छुट्टी पाकर कुछ समय तक महात्माजी के समीप रहें, परंतु दुर्भाग्यवश ऐसा अवसर न मिल सका।

भौतिक सामीप्य अधिक न होने पर भी मानसिक रूप से तो मैं गत तीस वर्षों में निरंतर बापू के संपर्क में ही रहा हूं। देश के राजनैतिक कार्यकर्ता की हैसियत से, पत्रकार की हैसियत से और व्यक्तिगत हैसियत से भी मैं इस समय में निरंतर उनके समीप रहा हूं; बीच-बीच में भौतिक सान्निध्य भी होता रहा। उसीके संस्मरण यहां देता हूं।

मुझे बापू के प्रथम दर्शन अचानक हो गये। संभवतः यह घटना सन १९१५ की है। इससे पूर्व दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतवासियों के नेता मि० गांधी का नाम बरसों तक सुना था, समाचार-पत्रों में उनके अनेक चित्र भी देखे थे और उनके संबंध में बहुत-कुछ पढ़ा था। कुछ वर्ष पहले उनके आश्रम के विद्यार्थी, जिनमें देवदासजी भी थे, गुरुकुल आकर थोड़े समय तक रहे थे। जैसे किसी दूसरे लोक के निवासी देवताओं के लिए मन में आदर और भक्ति-भावना बन जाती है, वैसी मेरे दिल में भी बनी हुई थी। और जैसे प्रत्येक परोक्ष व्यक्ति का, यहांतक कि ईश्वर का भी काल्पनिक चित्र हमारे हृदय में खिंच जाता है, वैसा गांधीजी का चित्र मेरे मन में भी खिंचा हुआ था। जहांतक मुझे याद है, वसंत का मौसम था और सूर्योदय का समय। मैं उन दिनों गुरुकुल कांगड़ी में उपाध्याय था। गंगा-तट पर पिताजी (स्वामी श्रद्धानंदजी) का जो निवास-स्थान था, वहां से मैं विद्यालय की ओर जा रहा था। गुरुकुल कांगड़ी में महा-विद्यालय भवन के सामने सींवल का एक बड़ा पेड़ था जिसके नीचे एक विशाल चबूतरा बना हुआ था। मैं उसके पास से गुजर रहा था कि सामने से एक नाटे कद के दुबले-पतले सज्जन को आते देखा। सज्जन का वेश साधारण गुजराती व्यापारी का-सा था। भेद केवल इतना था कि पांव नंगे थे और चाल विशेष रूप से तेज थी। मेरा उस ओर तबतक ध्यान नहीं गया, जबतक कि बिल्कुल पास पहुंचकर सज्जन ने मुझसे यह नहीं पूछा, "महात्माजी का निवास-स्थान कहां है?" उस समय तक महात्मा विशेषण पिताजी के साथ लगता था, गांधीजी के साथ नहीं। प्रश्न का उत्तर देने के लिए मैंने उनकी ओर देखा और हाथ से गंगा-तट की ओर इशारा करते हुए कहा, "उस बंगले में।" इतना सुनकर वह सज्जन तीव्र गति से आगे बढ़ गये, पर मैं वहीं खड़ा कुछ सोचता रहा। सोचने की बात यह थी कि

चेहरा कुछ परिचित-सा प्रतीत हुआ। परंतु यह याद नहीं आया कि वह किसका है और कब देखा है। कुछ क्षणों के उपरांत मन में यह बात बिजली की भांति कौंध गई कि यह चेहरा दक्षिण अफ्रीकावाले गांधीजी का है। मैंने लौटकर उधर देखा, जिधर गांधीजी गये थे; क्योंकि अब मेरे मन में यह पश्चात्ताप हो रहा था कि मैंने एक पूज्य पुरुष का चरण-स्पर्श क्यों नहीं किया। पर अब क्या हो सकता था! अब तो वह मुझसे बहुत दूर जा चुके थे। वह पिताजी के बंगले के अंदर चले गये और मैं सामने विभूति को न पहचान सकने के कारण कुछ खिन्न-सा होकर आगे चला गया।

इसके पश्चात सार्वजनिक जीवन में समय-समय पर निरंतर महात्माजी के दर्शनों का अवसर मिलता रहा। मैंने १९१९ से लेकर १९३९ तक के कांग्रेस के प्रायः सभी अधिवेशन देखे हैं। इनमें से तीन-चार अधिवेशनों को छोड़कर सबमें प्रतिनिधि की हैसियत से ही सम्मिलित होता रहा। बारह वर्ष तक बराबर दिल्ली की ओर से अ० भा० कांग्रेस कमेटी का सदस्य रहा। उसके शायद ही किसी अधिवेशन में अनुपस्थित रहा हूं। इन बीस वर्षों का कांग्रेस का और भारत का राजनैतिक इतिहास गांधीजी के प्रभाव और यश के विस्तार का इतिहास है। मैंने राजनीति के और मानव-प्रकृति के एक विद्यार्थी की आंखों से महात्माजी की इस विजय-यात्रा के हर एक चरण को बड़े ध्यान से देखा और अनुभव किया है। अधिवेशनों में जो छोटी-छोटी घटनाएं हुईं, वे मेरे हृदय पर ऐसे अंकित हैं, जैसे आज ही हुई हों। उनमें से एक प्रसंग यहां देता हूं। कलकत्ते की नेशनल कन्वेन्शन के समय की एक घटना है। मैं उस अधिवेशन में भी सम्मिलित हुआ था। कन्वेंशन के सभापति पं० मोतीलाल नेहरू थे। कन्वेन्शन ने जो प्रस्ताव स्वीकार किया था, उसमें भारत का लक्ष्य औपनिवेशिक स्वराज्य को माना गया था। जब वह प्रस्ताव अ० भा० कांग्रेस कमेटी में स्वीकृति के लिए उपस्थित हुआ, तो युवक दल के दो नेताओं की ओर से उसमें यह संशोधन उपस्थित करने की सूचना दी गई कि कांग्रेस का ध्येय भारत को पूर्ण रूप से स्वाधीन बनाना है। युवक दल के वे दोनों नेता पं० जवाहरलाल नेहरू और श्री सुभाषचंद्र बोस थे। यों महात्माजी उन दिनों कांग्रेस से अलग होकर साबरमती आश्रम में विश्राम कर रहे थे.

परंतु जब संकट देखकर पं० मोतीलालजी ने अपने मित्र और गुरु को पुकारा, तो द्रौपदी की पुकार से खिंचे हुए संकटमोचन मोहन की तरह मोहनदास करमचंद गांधी ठीक समय पर आ पहुंचे और उस प्रस्ताव को उपस्थित करने लगे।

उस समय उन्होंने जो भाषण दिया, वह उन सब गुणों का परिचायक था, जिन्होंने उन्हें भारत की राजनीति पर पच्चीस साल तक प्रभुत्व करने का अधिकार दिया था। प्रारंभ में उन्होंने औपनिवेशिक स्वराज्य का अर्थ समझाया, फिर उसके गुण बतलाये, तत्पश्चात संशोधन की चर्चा की। वह चर्चा उतनी संशोधन की नहीं थी, जितनी उसके प्रस्तावक की थी। महात्माजी के कथन का सारांश कुछ इस प्रकार था :

"जवाहरलाल कहता है कि उसे डोमिनियन स्टेटस पसंद नहीं, वह तो पूरी आजादी चाहता है। वह चाहेगा भी क्यों नहीं ? वह तो आजादी का दीवाना है। उसके पिता भी तो आजादी के दीवाने हैं न ! वह तो अपने दीवानेपन में सूख गया है। कमला बीमार है, उसकी उसे चिंता नहीं। आप रोगी है, इसकी भी परवाह नहीं करता, देश की चिंता में घुला जाता है . . ." इत्यादि-इत्यादि।

महात्माजी इतना ही कह पाये थे कि लोगों ने देखा कि पं० जवाहरलाल नेहरू अपने स्थान से उठकर सिर झुकाये हुए पंडाल से बाहर चले गये। नास्तिक दर्शकों ने कहा, "बुड्ढे ने तारीफ करके जवाहरलाल को मार डाला।"

उनकी बात ठीक ही निकली। महात्माजी के भाषण के बाद जब संशोधन के उपस्थित करने का समय आया, तो जवाहरलालजी की तलाश हुई, पर वह कहीं न मिले। लोगों ने समझा—संशोधन मर गया, परंतु नहीं। बंगाल के प्रतिनिधियों में से अकस्मात आवाज आई, "महोदय, मैं इस संशोधन को उपस्थित करता हूं।" लोगों ने उधर देखा, तो हरे रंग की खादी की टोपी और धोती-कुरता पहने सुभाषबाबू खड़े थे।

बाद की घटनाओं में मैं महात्माजी के अंतिम दर्शन की बात सुनाने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। महात्माजी अंतिम बार जेल से मुक्त होकर जुहू में विश्राम करने के लिए गये, तो मैंने संकल्प किया कि परिवार-

सहित जुहू जाकर उनके दर्शन करूं। जुहू में महात्माजी ने लंबा मौन-व्रत धारण किया था। जाने से पहले महात्माजी की अनुमति ले लेना आवश्यक समझकर मैंने उन्हें एक पत्र लिखा। महात्माजी ने अपने हाथ से लिखा :

चि० इंद्र,

दिल चाहे तब आओ, लेकिन आजकल की मुसाफिरी की कठिनाई में सिर्फ देखने के लिए तकलीफ क्यों उठाना? मेरा मौन चलता है, २९ तारीख को खुलेगा।

जुहू, २३-५-४४। —बापू के आशीर्वाद

यह उन निजू पत्रों का एक नमूना है, जिनकी प्रत्येक पंक्ति सूत्र बनकर देशवासियों के हृदयों को बांध लेती थी। वे चाहे विचारों में महात्माजी से कितना ही मतभेद रखते हों, उनके हृदय बापू को बापू मानने के लिए लाचार हो जाते थे :

स पिता पितरस्तेषां केवलं जन्महेतवः।

पत्र छोटा-सा है, परंतु उसमें इतनी ममता भरी हुई है, जितनी पूरी पुस्तक में भी नहीं आ सकती। चिंता हमारी असुविधा की है, अपनी की नहीं। आशीर्वाद खुले हाथों मिलता था। उसमें न कोई कंजूसी थी, न मांगने की जरूरत। मेघ की तरह वह हर एक पर बरसता था।

दर्शनों के लिए महात्माजी की अनुमति मिल गई, किंतु मेरे भाग्य में अनुमति से लाभ उठाना नहीं बदा था। मैं स्वयं बहुत लंबी बीमारी में फंस गया और जुहू न जा सका। परिवार-सहित अंतिम दर्शन करने का अवसर मुझे बाद में तब मिला, जब महात्माजी वाइसराय से मिलने के लिए दिल्ली आये और काफी समय तक भंगी बस्ती में ठहरे। एक दिन प्रातःकाल महात्माजी के भ्रमण के समय मैंने परिवार-सहित आश्रम में उपस्थित होकर प्रणाम किया। रोग के कारण मैं बहुत निर्बल हो गया था। देखकर बापू ने पूछा, "बहुत कमजोर हो गये हो! क्या बात है?"

मैंने उत्तर दिया, "बहुत बीमार रहा हूं।"

बापू ने पूछा, "अब कैसा है?"

मैंने कहा, "अब अच्छा हूं।"

मेरी पत्नी की ओर देखकर बापू ने कहा, "इनको तो मैंने पहले देखा है ।"

मैंने कहा, "यह आश्रम की भोजनशाला में अन्य देश-सेविकाओं के साथ परिचर्या के लिए प्रतिदिन आती हैं ।"

इसपर संतोष-सूचक हंसी हंसते हुए बापू ने छोटी बच्ची सरोज के कंधों की ओर हाथ बढ़ाया। उसने सलवार और कमीज के साथ एक दुपट्टा पंजाबी ढंग पर गले में डाल रखा था। दुपट्टे को छूकर हंसते हुए बापू बोले, "यह फालतू चीज क्यों डाल रखी है ?"

नौ साल की लड़की के गले में दुपट्टा सचमुच फालतू ही था। उसके पश्चात लड़कियों ने हस्ताक्षर लेने के लिए कापियां आगे बढ़ाईं। "हस्ताक्षर चाहिएं, तो लाओ फीस !" बापू ने खिलखिलाकर हंसते हुए कहा।

हरिजन-कोष के लिए पांच रुपये प्रति हस्ताक्षर की फीस पहले ही तैयार थी। बापू ने इशारा किया कि नोटबुक और फीस सेक्रेटरी को दे दो, हस्ताक्षर हो जायेंगे। यह प्रतिक्रिया समाप्त होने पर महात्माजी ने मुझसे कहा, "कुछ और बात करनी है क्या ? करनी हो, तो आ जाओ ।"

महात्माजी घूमने जा रहे थे। मैं जानता था कि अपनी पद्धति के अनुसार महात्माजी मेरे कंधों पर हाथ रख लेंगे और साथ-साथ चलते हुए बात कर लेंगे। इससे अच्छा अवसर मुझे कहां मिल सकता था ! चारों ओर हजारों की भीड़ थी। बहुत-से कैमरावाले भी वहां घूम रहे थे। दूसरे दिन के दैनिक-पत्रों में महात्माजी के साथ चित्र छपने का दुर्लभ अवसर भी दिखाई दे रहा था। परंतु न जाने क्यों, इस प्रकाशन की संभावना से मेरा मन घबरा गया और मैंने उत्तर दिया, "बस इस समय तो मैं प्रणाम करने के लिए ही उपस्थित हुआ था, बातचीत करने के लिए फिर आऊंगा ।"

प्रणाम करके मैं अलग खड़ा हो गया, महात्माजी घूमने के लिए आगे बढ़ गये। यही अंतिम दर्शन थे। वह "फिर" फिर न आ सकी, जिसकी मुझे आशा थी। बाद में दर्शनों का सुयोग ही न मिला।

: ३ :

पंडित मोतीलाल नेहरू

सन १९१९ की बात है। वर्ष के प्रारंभ में महात्मा गांधी ने रौलट एक्ट के विरोध में सत्याग्रह की घोषणा की थी। प्रारंभिक कदम के तौर पर जो देशव्यापी हड़ताल हुई, भिन्न-भिन्न प्रांतों की सरकारों ने उसपर अपने-अपने ढंग से प्रहार किया। पंजाब के गवर्नर सर माइकल ओड्वायर की सरकार ने सत्याग्रह पर लाठी और गोली से प्रहार किया, जिसका स्थूल रूप जलियांवाला बाग के हत्याकांड और मार्शल लॉ के आकार में प्रकट हुआ। ब्रिटिश टाइगर अपने असली नग्न रूप में संसार के सामने आ गया। पंजाब पर ऐसे अत्याचार हुए, जैसे इतिहास में पढ़े थे, परंतु कभी विश्वास नहीं किया था और समझा था कि यह केवल अतिशयोक्ति-मात्र है। कुछ समय तक तो पंजाब के संबंध में फांसीघर की-सी निस्तब्धता बनी रही। प्रांत के समाचारों पर पाबंदी लगाकर मार्शल लॉ के नाम पर जो भीषण अन्याय किये गये, उनका देश को और संसार को तब पता चला, जब लोकमत से प्रभावित होकर सरकार को वह प्रतिबंध हटा लेना पड़ा। परदे के हटने पर संसार ने देखा कि सभ्यताभिमानी ब्रिटेन के प्रतिनिधियों ने पंजाब में जो राक्षसलीला की है, उसने नीरो और चंगेजखां की स्मृति को भी मात कर दिया है। देश-भर में हाहाकार-सा मच गया। पंजाब की दशा को देखने और उसके आघातों पर मरहम लगाने के लिए देश के हरएक प्रांत से देशभक्त पंजाब के लिए रवाना होने लगे। उन देशभक्तों में से विशेष रूप से स्मरणीय देशबंधु चितरंजन दास, पंडित मोतीलाल नेहरू, स्वामी श्रद्धानंदजी और पं० मदनमोहन मालवीय थे। पहले दोनों मार्शल लॉ की तहकीकात के संबंध में और शेष दोनों

मार्शल लॉ द्वारा आहतों और पीड़ितों की सहायता के लिए पंजाब पहुंचे। तभी मुझे पं० मोतीलालजी के प्रथम दर्शनों का अवसर मिला।

मेरे पिता स्वामी श्रद्धानंदजी के पास पं० मोतीलाल नेहरू का इस आशय का पत्र आया कि मैं मार्शल लॉ की घटनाओं की तहकीकात के लिए कांग्रेस द्वारा बनाई गई तहकीकाती कमेटी में भाग लेने के लिए लाहौर जा रहा हूं। आप पंजाब में सेवा का कार्य करके अभी आये हैं। इलाहाबाद से लाहौर जाता हुआ दिल्ली में आपसे मिलकर जाऊंगा। पत्र में अपने दिल्ली पहुंचने की तारीख और पिताजी के निवास-स्थान पर पहुंचने का निश्चित समय भी दिया हुआ था।

पास से ही उनके दर्शन करने की मेरी बड़ी इच्छा थी। उन्हें एक बार पटना की कांग्रेस में दूर से देखा था। तब वह नरम विचारों के धनी नेता समझे जाते थे। उस समय मैंने नेहरू-परिवार को इलाहाबाद से रेल द्वारा पटना जाते हुए देखा था। पहले दर्जे का पूरा डिब्बा रिजर्व कराया गया था। पूरे विलायती वेश में दोनों नेहरू, पिता और पुत्र, जब प्लेटफार्म पर पहुंचे, तो स्टेशन पर काफी सनसनी-सी फैल गई। नेहरूजी के धन और आनंद भवन की ख्याति चारों ओर फैल चुकी थी। यह भी चर्चा पूरे जोर पर थी कि उनके लड़के विलायत से बैरिस्टर बनकर आये हैं और वह भी हाईकोर्ट में वकालत करेंगे। दोनों नेहरुओं के साथ दो-तीन व्यक्ति और थे, जो रूपरंग और वेशभूषा से नेहरू-परिवार के ही सदस्य लगते थे। यह था मोतीलालजी का राजसी ठाठ, जिसे साधारण जनता उत्सुकता से देख रही थी।

उसके पश्चात यह पहला अवसर था, जब मुझे मोतीलालजी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त करने की आशा हुई। वह दृश्य मुझे पूरी तरह याद है। प्रातःकाल के दस बजे का समय होगा। पंडितजी पिताजी के निवास-स्थान पर पहुंचे। जब वह सीढ़ियों से ऊपर पहुंचे, तो उनके रूप की पहली झांकी दिखाई दी। अभी उन्होंने कोट, पतलून और हैट का वेश नहीं छोड़ा था। शानदार सफेद मूंछें उनके सुंदर गोरे काश्मीरी चेहरे पर खूब सज रही थीं और उनकी शान को बढ़ा रही थीं। पिताजी उनका स्वागत करने के लिए कमरे से बाहर

आये। उस समय जो परिस्थिति उत्पन्न हुई, वह वस्तुतः बहुत-ही मनोरंजक थी। इसमें थोड़ा अभिनय का-सा रंग भी आ गया था। पिताजी ने बाहर आकर पंडितजी पर नजर पड़ते ही आश्चर्य से कहा, "हैं, तुम हो!" पंडितजी ने भी पिताजी की तरफ ध्यान से देखकर कहा, "अरे, तुम हो!" मैं आश्चर्य में आ गया। दोनों ने खूब कस-कर हाथ मिलाये। पिताजी ने कहा, "मैं अबतक यह नहीं जानता था कि पंडित मोतीलाल नेहरू तुम ही हो!" पंडितजी ने उत्तर दिया, "मैं भी अबतक यह नहीं समझता था कि महात्मा मुंशीराम और स्वामी श्रद्धानंद तुम ही हो!" इसके बाद थोड़ी देर के लिए दोनों बुजुर्ग अपनी आयु, ऊंची परिस्थिति और शायद मेरी उपस्थिति को भी भूल गये और पुराने कालेज के समय में वापस चले गये। एक ने दूसरे से कहा, 'तुम तब भी बहुत नटखट थे।" दूसरे ने उत्तर दिया, "तुम्हारी यह तब भी आदत थी।" किसने किससे क्या कहा, यह याद नहीं रहा, सारी बातचीत से थोड़ी देर में मेरी समझ में आ गया कि कालेज में पढ़ने के समय दोनों बुजुर्ग इलाहाबाद में सहपाठी थे, मित्र थे और एक ही तबीयत के थे। दोनों सैलानी थे, किताबों के कीड़े नहीं।

इतना परिचय प्राप्त करके और दर्शनों से संतुष्ट होकर मैं चुपके से वहां से उठ गया। दोनों में लगभग दो-तीन घंटे तक बातचीत होती रही।

दूसरी बार मुझे पंडितजी के अमृतसर की कांग्रेस के अवसर पर दर्शन हुए। अमृतसर-कांग्रेस में पिताजी स्वागताध्यक्ष थे और पं० मोतीलालजी सभापति। उस अवसर पर मैंने पहली बार पंडितजी का भाषण सुना। पंडितजी का भाषण सारगर्भित और युक्तिपूर्ण था। वह सदा श्रोताओं के मस्तिष्क पर प्रभाव डालने का यत्न करते थे। एक योग्य वकील को जिस भाषण-शैली से काम लेना चाहिए, पंडितजी उसके उस्ताद थे। अंग्रेजी और उर्दू दोनों भाषाओं पर उनका पूर्ण प्रभुत्व था। साथ ही जिंदादिली उनका विशेष गुण था। कड़े-से-कड़े कठिन समय में वह विनोद कर सकते थे, खिलखिलाकर हंस सकते थे, और गंभीर-से-गंभीर कठिनाई को हंसी में उड़ा सकते थे। उनका यह गुण भाषण के प्रभाव को बढ़ाने में बहुत उपयोगी सिद्ध होता

था। वह विरोधी की अनर्गल युक्तियों का उत्तर देने में अधिक परिश्रम नहीं करते थे, प्रत्युत उसे विनोद की चुटकियों में उड़ा देते थे। इस प्रकार मौलिक रूप में वह कुशल वक्ता थे। साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि जनता के लाड़ले वक्ताओं में जो विशेषताएं होती हैं, उनमें से एक बड़ी विशेषता का उनमें अभाव था। वह दमे के पुराने मरीज थे, इस कारण उनका गला बहुत ऊंचा नहीं उठ सकता था और न उनके स्वर का तार बंधता था। जब कभी जोर से बोलना पड़ता था, तो प्रायः खांसी उठ खड़ी होती थी, जो भाषण में विघ्न पैदा कर देती थी। इस कमी के कारण उन्हें जन-साधारण को उत्तेजित करनेवाला वक्ता नहीं कहा जा सकता। फिर भी वह बहुत कुशल वक्ता थे। उनकी जोरदार भाषा और युक्तियों का जनता पर जो प्रभाव पड़ता था, वही उन्हें जन-नेता बनाने के लिए पर्याप्त था।

यह मैंने पंडितजी के कांग्रेस में प्रारंभिक जीवन की बात कही है। कुछ समय पश्चात तो नक्शा ही बदल गया। पंडितजी ने महात्मा गांधी की आध्यात्मिक प्रेरणा से अपनी अतुल विभूति और सुखैषणा का जो अनुपम बलिदान किया, उसने उनके व्यक्तित्व को बहुत ऊंचा उठा दिया, इतना ऊंचा उठा दिया कि उनका कहा हुआ एक-एक शब्द हजार-हजार शब्दों का बल रखता था। वक्ता के योग्य भौतिक विशेषता के न होते हुए भी गांधी-युग में पं० मोतीलाल नेहरू के भाषण बिजली का-सा असर रखते थे। यदि गांधी-युग से पूर्व के वक्ताओं से पं० मोतीलाल नेहरू की तुलना करें, तो कहना पड़ेगा कि केवल पुरानी वक्तृत्व-कला की दृष्टि से वह कुछ न्यून थे, परंतु वह वक्तृत्व-कला, जिसमें वक्ता का व्यक्तित्व सबसे अधिक महत्व रखता है, पंडितजी को वक्ताओं में बहुत ऊंची कोटि पर बिठा देती है।

अमृतसर की कांग्रेस में पं० मोतीलालजी ने मुख्य रूप से विधान-सभा के अध्यक्ष का पार्ट अदा किया। वह कांग्रेस की गरम राजनीति में नये थे। वहां रंगमंच पर मुख्य पात्र लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी और पं० मदनमोहन मालवीय थे। देशबंधु दास भी मंच पर पग बढ़ा रहे थे, परंतु मोतीलालजी संसद के अध्यक्ष की भांति लोकमत के उतार-

चढ़ाव के निरीक्षक और नियंत्रणकर्ता ही बने रहे। यों उनकी तथा उनके परिवार की जो राजोचित शान वहां दिखाई दे रही थी, वह किसी अन्य को प्राप्त नहीं थी। परमात्मा की दी हुई जन्मसिद्ध पहली विभूति—सुंदरता—नेहरू-परिवार को पुष्कल-मात्रा में प्राप्त थी। स्वयं मोतीलालजी राजपूती मूंछों और श्वेत रोबीले चेहरे के ऐश्वर्य को लिये सभापति के आसन की शोभा बढ़ा रहे थे। दर्शकों की दृष्टि उस काश्मीरी परिवार पर पड़ती थी, तो आसानी से हटती नहीं थी। वह रूप और शान नेहरू-परिवार को जहां परमात्मा की देन थी, वहां उसपर उसके केंद्र पं० मोतीलालजी की गुण-गरिमा ने उसकी चमक को सौगुना कर दिया था।

पं० मोतीलालजी के चरित्र की सब विशेषताओं का एकत्र प्रदर्शन तब हुआ, जब गया की कांग्रेस के अवसर पर उन्होंने और देशबंधु चितरंजन दास ने मिलकर स्वराज्य पार्टी की स्थापना की। महात्माजी जेल में थे। देश में राजनैतिक आंदोलन के शिथिल हो जाने के कारण उदासी-सी छा रही थी। कांग्रेस ने भावी कार्यक्रम के संबंध में एक समिति बनाई थी, जिसकी रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया था कि कांग्रेस को कौन्सिलों का बहिष्कार उठा देना चाहिए और चुनाव लड़कर कौन्सिलों के मोर्चे को भी गरम कर देना चाहिए। आशा यह थी कि कांग्रेस के अधिवेशन में समिति की रिपोर्ट स्वीकार हो जायगी, परंतु अनेक प्रमुख नेताओं के विरोध के कारण वह आशा पूरी न हुई। कौन्सिल-प्रवेश के पक्षपातियों के नेता पं० मोतीलालजी और देशबंधु दास थे और उनके विरोधियों के नेता श्री राजगोपालाचार्य, सरदार वल्लभभाई पटेल और श्री राजेंद्रप्रसादजी थे। फलत: जब अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सामने कौन्सिल-बहिष्कार को स्थगित कर देने का विषय उपस्थित हुआ, तो कांग्रेस के व्याख्यान-मंच ने विवाद-सभा का रूप धारण कर लिया। कौन्सिल-प्रवेश के विरोधी बहुत प्रभावशाली थे। श्री राजगोपालाचार्य का तर्क कैंची की तरह तेज चलता था, सरदार पटेल की चुनौती-भरी उक्तियां विरोधियों को दहला देती थीं और बाबू राजेन्द्रप्रसाद की भावुकतापूर्ण [illegible] परिवर्तनवाद के पांव हिला देती थी। उनका उत्तर देने का कठिन काम

अकेले पं० मोतीलालजी को करना पड़ रहा था। वह जानते थे कि अपरिवर्तनवादी वलवान हैं, और वह यह भी समझते थे कि अपरिवर्तनवादियों की पीठ पर महात्माजी का हाथ है। साधारण योद्धा होता, तो इतनी शक्तियों के सामने झुक जाता, या कम-से-कम मौन हो जाता, पर मोतीलालजी राजपूती शान के वहादुर थे। खूब जमकर लड़े। महात्माजी के नाम की दुहाई देनेवालों को उत्तर दिया कि यदि महात्माजी जेल से वाहर होते, तो वह अवश्य हमारा समर्थन करते।

उन्होंने आलोचकों को करारे उत्तर दिये, परंतु प्रतिनिधियों का वहुमत विरुद्ध रहा, क्योंकि सामान्य रूप से यह विश्वास किया जाता था कि महात्माजी कौन्सिल-प्रवेश के कार्यक्रम को पसंद नहीं करते। वहुमत से पं० मोतीलालजी का प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया, परंतु पंडितजी परास्त नहीं हुए। उन्होंने तत्काल स्वराज्य-पार्टी की स्थापना की घोषणा कर दी और उसी दिन सायंकाल के समय अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के उन सदस्यों की स्वराज्य-दल में भरती आरंभ कर दी, जो कौन्सिल को लड़ाई का मोर्चा वनाने के पक्ष में थे। जिन सदस्यों ने उसी समय स्वराज्य दल के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये, उनमें मैं भी था। जव मैंने हस्ताक्षर करके फार्म पंडितजी के हाथ में दिया, तो उन्होंने प्यार से मेरी पीठ को थपथपाया, जिससे मैं वस्तुतः फूल उठा। पंडितजी दोषी को लताड़ना जानते थे, तो जिससे प्रसन्न होते, उसे पुचकारना भी खूव जानते थे। उनकी डांट भयावनी थी, तो उनकी हंसी की मादकता भी असंदिग्ध थी।

जिस संसद-भवन में आज पं० नेहरू सरकारी नेता की हैसियत से विराजमान हैं, उसी भवन में उन दिनों उनके पिता विरोधी दल के नेता के रूप में वैठे थे। तुलना कभी अच्छी नहीं होती और फिर योग्य पिता और योग्य पुत्र में तुलना और भी असुविधाजनक है! मैंने तव भी देखा और अव भी देखता हूं और मैं इतना लिखे विना नहीं रह सकता कि कौन्सिल चैंवर में विरोधी दल के नेता पं० मोतीलाल नेहरू का जो रोव-दाव और राजाओं-जैसा ठाठ था, वह आज किसी व्यक्ति का दिखाई नहीं देता। जिस समय सफेद खद्दर के वेष में परिष्कृत होकर पंडितजी अपनी गंभीर

गति से कौन्सिल चैंवर में प्रविष्ट होते थे, उस समय सरकारी कुरसियों पर बैठनेवाले अंग्रेज महापुरुषों को भी सहमकर खड़े हो जाना पड़ता था। पंडितजी द्वारा धारा सभा में की गई आलोचनाओं से सरकार थर-थर कांपती थी। जितनी शान उन दिनों विरोधी दल के नेता की थी, उतनी शान आज के मंत्रियों की भी नहीं है। निस्संदेह कहा जा सकता है कि पं० मोतीलालजी पैदायशी राजा थे। समय ने उन्हें ऐसे समय उत्पन्न किया कि उन्हें विरोधी दल का नेता बनना पड़ा।

जब स्वराज्य पार्टी ने पहली बार धारा सभाओं में प्रवेश किया, तब धारा सभा में उसके सदस्यों का अल्पमत था। यह स्वाभाविक ही था कि 'स्वराज्य पार्टी के जन्मदाता' और योग्यतम सदस्य होने के कारण पं० मोतीलालजी को उसका नेता चुना जाता। उस समय धारा सभा का नेतृत्व अंग्रेजों के हाथों में था और बहुमत जी-हुजूरों के हाथों में। ऐसे विकट सरकारी दल के विरोध में खड़ा होना और अपने परिमित सैनिकों की सहायता से पग-पग पर मोर्चा लेना बहुत दुष्कर कार्य था। कई वर्षों तक उस दुष्कर कार्य को मोतीलालजी ने जिस ध्यान और शान के साथ किया, उसने न केवल दासता की बेड़ियों में बंधे हुए भारतवासियों के मस्तकों को ही ऊंचा कर दिया, विरोधियों के मुंह से भी बरबस वाह-वाह कहला दिया। अल्पसंख्या में होते हुए भी पंडितजी ने अपनी नीति-निपुणता के कारण कई अवसरों पर सरकार को परास्त कर दिया, जिससे सरकारी हल्कों में उनकी धाक बैठ गई।

जिन गुणों ने उन्हें अनेक बाधाओं के होते हुए भी ऐसा प्रभावशाली बना दिया था, उनमें से तीन मुख्य थे। उनका पहला गुण था, समय और परिस्थिति को पहचानने की शक्ति, जिसका संक्षिप्त नाम 'नीतिज्ञता' है। उनका आदर्शवाद यथार्थवाद का मित्र था, विरोधी नहीं था। हरएक प्रश्न पर वह यह परख लेते थे कि हम आदर्श के कितने भाग को प्राप्त कर सकते हैं और उसपर अंगद का पांव जमा देते थे। उस समय कांग्रेस के क्षेत्रों में कहा जाने लगता था कि अब पंडितजी अपनी बात पर अड़ गये हैं। विश्वास करने से पहले सब पहलुओं पर विचार कर लेना और विश्वास कर लेने पर उसपर

दृढ़ हो जाना, राजनीति में सफलता का यही सार है।

पंडितजी का दूसरा गुण था उनकी संतुलित और प्रौढ़ वक्तृत्व-शक्ति। वह कानूनी ढंग के वक्ता थे। प्रत्येक पक्ष के केंद्रभूत विचार को पकड़ना और फिर उद्भट प्रतिभा और समुचित भाषा की सहायता से उसका प्रतिपादन करना धारा सभाओं में सफलता प्राप्त करने का अचूक साधन है। पंडितजी उस साधन से पूरी तरह संपन्न थे।

उनका तीसरा विशेष गुण था, स्वभाव की लोकोत्तर विशालता। लोकोत्तर विशालता के बारे में कवि भवभूति ने बतलाया है:

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥

—अर्थात लोकोत्तर व्यक्तियों के चित्तों को कौन समझ सकता है, क्योंकि वे जहां वज्र से भी कठोर होते हैं, वहां फूल से भी कोमल होते हैं! पं० मोतीलाल का क्रोध प्रसिद्ध था। घर में जब उनकी त्यौरी चढ़ी दिखाई देती थी, तो आनंद भवन की दीवारें हिलने लगती थीं, परंतु जब क्रोध उतर जाता था, तब उनके मुंह से जो अट्टहास निकलता था, वह आनंद भवन के आस-पास के मकानों में भी सुनाई देता था। वह हंसी मैंने अपने जीवन में बहुत ही कम, शायद कभी नहीं देखी। वह पूरे हृदय से हंसते थे, ऐसा हंसते थे कि उसके प्रवाह में बड़े-से-बड़े विरोधियों के हृदयों की नाराजगी धुल जाती थी। वह हंसी घर तक ही परिमित नहीं थी, कांग्रेस की बैठकों में, धारा सभा के अधिवेशनों में और निजी बातचीत में भी अनायास फूट पड़ती थी, जिससे गरम-से-गरम वातावरण क्षण-भर में शांत हो जाता था।

एक आंखों-देखी और घटना सुनाता हूं। रात की गाड़ी से मैं दिल्ली से लखनऊ जा रहा था। गाड़ी के चलने का समय हो रहा था। गार्ड ने सीटी दे दी। सब मुसाफिर अपने-अपने स्थान पर जा बैठे, परंतु गाड़ी चली नहीं। पांच मिनट, दस मिनट, आधा घंटा। गाड़ी ने प्लेटफार्म पर से हिलने का नाम नहीं लिया। तब मुसाफिर उतर-उतरकर देखने लगे कि माजरा क्या है। देखते क्या हैं कि प्लेटफार्म पर पंडित मोतीलाल नेहरू अपने सेक्रेटरी के साथ टहल

रहे हैं और उनका सामान प्लेटफार्म पर रखा हुआ है। मैंने पास जाकर देखा, तो पंडितजी की आंखों में लाली दिखाई दी। समझ लिया कि इस समय शिवजी की तीसरी आंख सक्रिय है। कुछ घबराहट हुई, फिर भी साहस करके पास गया और नमस्कार के अनंतर खड़े रहने का कारण पूछा। पंडितजी ने अत्यंत शांत भाव से उत्तर दिया, "मैंने अपने और सेक्रेटरी के लिए सीटें रिजर्व कराई थीं। इन कूढ़मग्जों ने ऊपर की सीट रिजर्व कर दी हैं। मैंने उन्हें लेने से इन्कार कर दिया है। गाड़ी स्टेशन से नहीं जा सकती, जबतक मेरे लिए नीचे की सीट का प्रबंध न हो। आप लोगों को कष्ट हो रहा है, इसका मुझे दुख है, परंतु इनका दिमाग सीधा करना भी जरूरी है।" यह कहकर पंडितजी जोर से हंस पड़े। इतने में स्टेशन सुपरिन्टेंडेंट भागा हुआ आया और हाथ जोड़कर बोला, "महाराज, स्टेशन पर इस समय कोई छोटा डिब्बा नहीं है। बहुत बड़ी-बड़ी बोगियां हैं, परंतु गाड़ी पहले ही लंबी हो चुकी है।"

स्टेशन सुपरिन्टेंडेंट इतना ही कह पाया था कि पंडितजी ने गरम होकर कहा, "तो डिब्बा किसी और स्टेशन से मंगवाओ। मेरे लिए सीट की व्यवस्था हुए बिना गाड़ी नहीं चल सकती।"

बेचारा सरकारी अधिकारी कांप रहा था। अंत में बोला, "अच्छा, तो एक पहले दर्जे की पूरी स्पेशल बोगी है, उसको लगा देता हूं।"

स्मरण रहे कि पंडितजी विरोधी दल के नेता ही थे। थोड़ी देर में पहले दर्जे की एक पूरी बोगी गाड़ी के पिछले भाग में लगाई गई, तब पंडितजी और उनके साथी गाड़ी में सवार हुए। गाड़ी लगभग एक घंटा देर में स्टेशन से रवाना हुई। गाड़ी पर चढ़ने के समय पंडितजी ने फिर एक बार हाथ जोड़कर यात्रियों से विलंब करने के लिए क्षमा-याचना की।

पराधीन भारत में सरकार के एक प्रसिद्ध विद्रोही नेता का वह आत्म-सम्मान और यह ठाठ देखकर हम लोगों की छाती गर्व से फूल गई। अनुभव हुआ कि हम राजनैतिक दृष्टि से पराधीन अवश्य हैं, परंतु भारतमाता की गोद तेजस्वी सुपूतों से शून्य नहीं है।

: ४ :

हकीम अजमल खां

१९१८ के अंत में दिल्ली आकर राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश करने के समय से ही हकीम अजमल खां साहब का नाम कानों में पड़ रहा था। कांग्रेस-अधिवेशन की स्वागत-कारिणी सभा के अध्यक्ष की हैसियत से उर्दू में भाषण देते समय मैंने उन्हें श्रद्धापूर्वक देखा भी था। उन दिनों के अंग्रेजी-भरे वातावरण में हिंदुस्तानी का प्रयोग मुझे बहुत ही प्रिय मालूम हुआ था। उस समय हकीमसाहब की जो मूर्ति देखी, वह भी मन में आदर का भाव पैदा करनेवाली थी। देखने में वह मुगलिया सल्तनत के कोई ऊंचे दर्जे के रईस मालूम होते थे। वह सदा अपने निश्चित वेश में बाहर निकलते थे। कभी उसमें परिवर्तन नहीं करते थे। डॉ० अन्सारी को मैंने पूरे अनवरपाशा के ठाठ में भी देखा और गांधी टोपी और खद्दर के कपड़ों में गांधीयाना शान में भी दर्शन किये, परंतु हकीमसाहब का रूप एक ही रहा। कपड़ा खद्दर का अवश्य हो गया, परंतु वेश-विन्यास में आदि से अंत तक कोई भेद न हुआ। भाषा के संबंध में भी वह अपरिवर्तनवादी रहे। हिंदुस्तानी में ही आरंभ किया और हिंदुस्तानी में ही समाप्त किया।

यह तो थे दूर से दर्शन। पहली बार पास से देखने का अवसर तब मिला, जब मैं 'तिलक स्वराज्य फंड' के चंदे के मामले में निमंत्रण पाकर हकीमसाहब के मकान पर गया। ऑल इंडिया कांग्रेस कमेटी ने 'तिलक स्वराज्य फंड' के एक करोड़ के चंदे की पूर्ति के लिए दिल्ली के नाम एक बहुत बड़ी रकम लगा दी थी। हकीमसाहब जिला कांग्रेस कमेटी के प्रधान थे। शहर के सबसे बड़े नागरिक भी वही समझे जाते थे। स्वभावतः चंदे की राशि पूरा करने का काम

हकीमसाहब पर पड़ा। हकीमसाहब ने इस उद्देश्य से जो सभा अपने घर पर बुलाई थी, उसका निमंत्रण मेरे पास भी आया, क्योंकि मैं सत्याग्रह कमेटी का मंत्री था।

हकीमसाहब के मकान की तलाश में मैं बाजार बिल्लीमारान घुसा, तो यह देखता हुआ बाजार के अंत तक चला गया कि कोई शानदार ऊंचे दरवाजेवाला रईसी मकान दिखाई दे, तो पूछूं कि क्या हकीमसाहब का यही मकान है। वैसा कोई दरवाजा न दिखाई दिया, तो बाजार की समाप्ति पर एक दूकानदार से पूछा। उसने उत्तर दिया कि हकीमसाहब का मकान तो आप बहुत पीछे छोड़ आये। पीछे लौटा और पूछते-पूछते उनके दरवाजे पर पहुंचा।

हकीमसाहब के मकान का दरवाजा मेरे अनुमान से बहुत ही भिन्न था। दूकानों की लाईन से कुछ पीछे को हटा हुआ एक साधारण-सा सदर दरवाजा था। सामने परदे के लिए एक दीवार बनी हुई थी, जिसके कारण अंदर की कोई चीज दिखाई नहीं देती थी। उस दरवाजे को देखकर यह अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता था कि उसके अंदर दिल्ली के प्रसिद्ध हकीम अजमल खां साहब का विशाल मतब (चिकित्सालय) और मकान है।

परदेवाले घर में जाने की आदत नहीं थी, इसलिए जरा रुककर झिझक के साथ अंदर प्रवेश किया, तो देखा कि मकान के बाहर से जो भावना बनी थी, वह बिलकुल ही गलत थी। वह मकान क्या था, एक छोटा-सा किला था। दरवाजे में घुसते ही विस्तीर्ण सहन था, जिसमें पांच-सात हजार की उपस्थितिवाली सभा हो सकती थी। उस सहन के बीचों-बीच उस समय एक मंच बना हुआ था, जिसपर तीन-साढ़े तीन सौ आदमी बैठ सकते थे। मंच लकड़ी के तख्तों पर दरी, चांदनी और गलीचे बिछाकर बनाया गया था। मैं पहुंचा, उस समय लगभग १०० व्यक्ति मंच पर बैठे हुए थे। एक बढ़िया ईरानी गलीचे पर गाउदुम तकिये के सहारे हकीमसाहब विराजमान थे। हकीमसाहब के एक ओर पानों की डिबिया पड़ी थी और दूसरी ओर उगालदान। उनके मुंह में दो पानों की एक जोड़ी थी। हकीमसाहब

खूब पान खाते थे। जागृत अवस्था में शायद ही कोई क्षण ऐसा होता हो, जब उनके मुंह में पान का अभाव हो। प्रसिद्ध था कि सोते समय भी वह पान मुंह में रख लेते थे। जब वह व्याख्यान देते थे, तब भी ऐसा अनुभव होता था कि उनके मुंह में पान के अवशेष हैं। यह संभवतः उस समय के दिल्ली और लखनऊ के रईसों का रिवाज भी था और चिह्न भी।

यह तो प्रसंगवश बात हुई। अब उस सभा की कार्रवाई का विवरण सुनिये। उपस्थित नागरिकों में दिल्ली के चुने हुए व्यापारी और धनी-मनी लोग थे। हकीमसाहब के सामने एक कागज पड़ा था, जिस-पर नागरिकों की लंबी सूची थी। प्रत्येक नाम के सामने एक राशि लिखी हुई थी। वह राशि केवल व्यक्तियों के नाम पर नहीं थी, बल्कि यह कि वे अपने क्षेत्रों से उतनी रकम वसूल करके देंगे। उपस्थित नागरिकों का इतना ही काम था कि उन राशियों को नोट कर लें। वाद-विवाद की कोई गुंजायश नहीं थी। हकीमसाहब को सब मानते थे। उन दिनों दिल्ली का शायद ही कोई हिंदू या मुस्लिम धनी घराना होगा, जो कभी-न-कभी हकीमसाहब के इलाज में न रहा हो। वह इलाज भी बिना किसी शुल्क के होता। हकीम अजमल खां अपने समय में अमृतपाणि चिकित्सक प्रसिद्ध थे। राजा से रंक तक उनके इलाज से लाभ उठाते। डॉक्टर अन्सारी के ख्याति प्राप्त करने से पहले हकीमसाहब ही दिल्ली के चिकित्सकों के मूर्धन्य माने जाते थे।

हकीमसाहब रकमें बोलते गये और नागरिक अपने-अपने नाम के आगे लिखी हुई रकम याद करते गये। अंत में इस आश्वासन के साथ सभा समाप्त हुई कि जनाब सात दिन के अंदर-अंदर आपके आदेश का पालन कर दिया जायगा। कांग्रेस की उस चढ़ती के दिनों में हकीमसाहब चंदा इकट्ठा करने के लिए इसी पद्धति को काम में लाया करते थे।

इस प्रसंग को छोड़ने से पहले हकीमसाहब के मंच के बारे में कुछ लिख देना आवश्यक है। उन दिनों वह मंच दिल्ली के बहुत-से सार्वजनिक कार्यों के उपयोग आता था। वह एक प्रकार से सार्वजनिक रंगमंच बना हुआ था। कभी उस पर उर्दू के मुशायरों की मज-

लिस जमती थी, तो कभी जमीअत-उल-उलमा-ए-हिंद की गंभीर बैठकें होती थीं। एक वार जव हकीमसाहव हिंदू महासभा के सभापति बननेवाले थे, नगर के कुछ हिंदू नेताओं की अनौपचारिक सभा भी वहीं हुई थी। सारांश यह है कि जैसे उन दिनों हकीमसाहव दिल्ली के सर्वतोगामी नेता बने हुए थे वैसी ही दशा उनके मंच की भी थी।

अव कुछ हाल हकीमसाहव के उस मकान-रूपी किले के अन्य भागों का भी सुनिये। सहन से दाहिनी ओर वहुत बड़ा दीवानखाना था, जो मतव के काम आता था। हकीमसाहव का मतव अपनी शान का निराला था। एक ओर एक ऊंचे कालीन से सजे हुए तख्त पर बड़े मसनद के सहारे हकीमसाहव बैठते थे। तख्त के आगे कागज-कलम लेकर एक मुंशी बैठा रहता था। सामने मरीजों के बैठने की जगह थी। कभी-कभी एक समय में दो-दो सौ मरीज एकत्र हो जाते थे। वारी-वारी से मरीज उठकर हकीमसाहव के सामने आते थे। हकीमसाहव वहुत धीमी आवाज में उनसे बीमारी का विवरण पूछते थे। उस समय हकीमसाहव का हाथ मरीज की नब्ज पर होता था। हकीमसाहव जिस आवाज में मरीज से प्रश्नोत्तर करते थे, वह मानो परमात्मा की ओर से उन्हें विशेष देन थी। उसे केवल वही सुन सकता था, जिससे वह वात करना चाहते थे। मैंने इतिहास में पढ़ा है कि ऐसी आवाज बहुत बड़े राजनीतिज्ञों को मिला करती है। वह हकीमसाहव को प्राप्त थी, जिससे वह जिस समय जिस व्यक्ति से वात करते थे, उसे यह अनुभव होने लगता था कि मैं हकीमसाहव का सबसे बड़ा अंतरंग हूं।

एक मरीज पर औसतन दो मिनट का समय खर्च होता था। मरीज की कहानी हकीमसाहव के लिए गौण थी, नब्ज मुख्य थी। वह नब्ज से ही बीमारी को पहचानते थे। मरीज पीछे हटा और हकीमसाहव ने उसी धीमे स्वर से नुस्खा वोल दिया। उसे केवल मुंशी सुन सकता था, दूसरा कोई नहीं। मुंशी नुस्खा लिखकर मरीज को दे देता था और मरीज वाहर जाकर हकीमसाहव के दवाखाने से दवा खरीद लेता था। सबसे बड़ी वात यह थी कि हकीमसाहव मतव में सब मरीजों को बिना किसी शुल्क के देखते थे। वह चिकित्सा का सदाव्रत था।

मतव के सामने मंच की वाईं ओर दुमंजिली इमारत थी, जिसे मकान का मर्दाना हिस्सा कह सकते हैं। निचली मंजिल में भोजन का कमरा था, दफ्तर था, सेक्रेटरी के वैठने की जगह और चाय आदि वनाने के लिए छोटा-सा मर्दाना रसोईघर था। ऊपर की मंजिल में हिंदुस्तानी ढंग से सजी हुई वैठक तथा उसके साथ मिलते हुए कुछ कमरे। यह सव तो घर के सावारण हिस्से थे, जिनकी चर्चा केवल चित्र को पूरा करने के लिए की गई है। असली रहस्यमय कमरा, जिसकी कथा पाठकों को सुनाना चाहता हूं, वह निचली मंजिल में भोजन के कमरे के पास था। कमरा वहुत छोटा था। कभी नापा तो नहीं, परंतु शायद ९×१२ फुट का होगा। कमरे की एक वड़ी विशेपता यह थी कि उसमें वाहर की रोशनी आसानी से नहीं पहुंच सकती थी और यदि पहुंचने की संभावना भी हो, तो दरवाजे वंद करके उसे रोक दिया जाता था। वैठने के लिए कालीन और तकियों की व्यवस्था थी। जव हकीमसाहव को किसी एक या अविक व्यक्तियों से अकेले में वातचीत करनी होती थी, तव यह कमरा काम में आता था। विलकुल सुनसान कमरा, विजली की रोशनी और गंभीरता का वातावरण—ये सव चीजें मिलाकर वह कमरा आदर्श मंत्रागार प्रतीत होता था। दिल्ली के एक पुराने राजनैतिक कार्यकर्ता सैयद हैदर रज़ा कुछ क्षोभ-भरी हंसी के साथ उस कमरे को 'ज़मीरों की कत्लगाह' कहा करते थे। मैं भी उस कमरे में हकीमसाहव के पास कई वार हाजिर हुआ। वहां झगड़ों को निवटाने के लिए ही लोग वुलाये जाते थे। वड़े-से-वड़े झगड़ालुओं को मैंने उस कमरे में हकीमसाहव के सामने भीगी विल्ली की तरह नरम होते देखा। कुछ हकीमसाहव के व्यक्तित्व का प्रभाव, कुछ उनके वीमे स्वर का जादू और कुछ कमरे का चमत्कार—कड़ी-से-कड़ी समस्या पंद्रह-वीस मिनटों में हल हो जाती थी। यदि हकीमसाहव अवतक जीवित रहते, तो न जाने कितनी समस्याएं उस 'जमीरों की कत्लगाह' में जाकर समाप्त हो जातीं।

सहन के सामने की ओर अंतःपुर की ड्योढ़ी थी।

यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि १९१८ से लेकर १९२४-२५ तक दिल्ली का राजनैतिक नेतृत्व हकीमसाहव के हाथों

में रहा। डॉक्टर अन्सारी का महान व्यक्तित्व उस समय जल्दी से बन रहा था, स्वामी श्रद्धानंदजी औपचारिक रूप में अभी कांग्रेस के नेता नहीं बने थे। वह सदा जनता के नेता ही रहे। महात्मा गांधी के विश्वासपात्र और नगर के हिंदुओं तथा मुसलमानों के सर्व-सम्मानित नेता होने की हैसियत से कई वर्षों तक हकीमसाहब ने न केवल दिल्ली की राजनीति पर, अपितु सारे देश की राजनैतिक कार्य-प्रणाली पर अपनी छाप लगाई। वह इस अंश में डॉक्टर अन्सारी से भिन्न थे कि धार्मिक दृष्टि से वह कट्टर मुसलमान थे। उनके यहां इस्लाम के धर्माचार्यों का काफी बड़ा जमाव रहता था। जहांतक मैं जानता हूं, इलाम के नमाज आदि आवश्यक अंगों का हकीमसाहब दृढ़ता से पालन करते थे। इस कारण उलमाओं पर उनका असर भी था। असहयोग आंदोलन के प्रारंभिक वर्षों में मुसलमान मौलानाओं को और उसके साथ ही मुसलमान जनता को कांग्रेस के समीप लाने में हकीमसाहब के उस प्रभाव का काफी भाग था।

हकीमसाहब दिल्ली की पुरानी शायस्तगी के एक बढ़िया नमूना थे। यदि वह मुगल बादशाहों के समय में हुए होते, तो अवश्य ही सल्तनत के किसी ऊंचे पद पर पहुंच जाते। रोबीली सौम्य मूर्ति, शिष्टाचार से भरा हुआ मधुर स्वर, कम-से-कम प्रत्यक्ष में कभी विक्षुब्ध न होनेवाली तबीयत और दूसरे के हृदय में घुसकर उसके भावों का चित्र ले लेनेवाली आंखें—ये सब विशेषताएं मिलकर हकीमसाहब को बहुत सफल उच्चाधिकारी बना सकती थीं। दुख की बात इतनी ही है कि वह देश की स्वाधीनता के नष्ट होने के पश्चात उत्पन्न हुए और फिर स्वाधीनता मिलने से पहले ही विदा हो गये। अंग्रेजी काल के प्रमुख भारतीय नरम नेता श्रीयुत गोखलेजी ने एक बार लाहौर में भाषण देते हुए कहा था कि भारत में सबसे अधिक दुख देनेवाली बात यह है कि ऊंचे-से-से-ऊंचा भारतवासी एक निश्चित ऊंचाई से ऊपर नहीं जा सकता। हकीमसाहब-जैसे दूरदर्शी और प्रतिभा-संपन्न नीतिज्ञ को अपना कर्मठ जीवन केवल आंदोलन में बिता देना पड़ा, श्रीयुत गोखले के कथन की सत्यता को सिद्ध करने के लिए यह एक ही दृष्टांत पर्याप्त था।

: ५ :

पंडित मदनमोहन मालवीय

मेरा ऐसा अनुभव है कि विशाल चित्र और महापुरुष समीप से उतने अच्छे नहीं दिखाई देते, जितने दूर से। समीप से देखें, तो दृश्य-वस्तु के गुण और दोष स्थूल रूप में सामने आ जाते हैं। देखनेवाले की दृष्टि अंग-प्रत्यंग पर इतनी फैल जाती है कि छोटे-से-छोटे दोष भी बड़े होकर सामने आ जाते हैं। इस कारण यथार्थ और अनुकूल सम्मति बनाने के लिए आलोचक को विशाल चित्र अथवा महापुरुषों के इतना ही समीप जाना चाहिए कि उनका विस्तृत रूप दिखाई देता रहे।

प्रायः महापुरुषों की यह विशेषता होती है कि वे सामान्य व्यक्तियों को अपने अधिक समीप नहीं आने देते। वे लोग भक्तों और अनुयायियों से इतने घिरे रहते हैं कि सामान्य व्यक्ति को उनतक पहुंचने के लिए कई ड्योढ़ियां पार करनी पड़ती हैं। मेरे-जैसे संकोचशील व्यक्ति के लिए ऐसे महापुरुषों के अत्यंत समीप जाना असंभव ही रहा है। मैं सदा कुछ दूरी से ही विशेष व्यक्तियों के चरित्र का अध्ययन करने के अपने शौक को पूरा करता रहा हूं। मेरी इस प्रवृत्ति में जो दो-तीन अपवाद हुए हैं, उनमें से एक पं० मदनमोहन मालवीयजी थे। उनके कुछ समीप जाकर दूर रहना असंभव ही था। उनके स्वभाव में एक विशेष प्रकार का चुंबक का-सा आकर्षण था, जो पास आनेवालों को अपनी ओर खींचता था। जो व्यक्ति एक बार उनके समीप आ जाता था, वह उनकी सब विशेषताओं से परिचित हो जाता था। यही कारण है कि श्रद्धेय मालवीयजी के संबंध में मेरे जितने संस्मरण हैं, उनमें व्यक्तिगत संपर्क का अंश अधिक है।

इसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूं कि मालवीयजी के समीप पहुंचने

में मुझे कभी कठिनाई नहीं हुई। जहां अपने सार्वजनिक जीवन के तीस वर्षों में मैंने देश के अनेक नेताओं से भेंट करने का अवसर दस-बारह बार प्राप्त किया होगा, वहां मालवीयजी से भेंट करने के अवसरों की संख्या सौ से कम न होगी। इस बड़ी संख्या का श्रेय मुझे नहीं है, क्योंकि मैं तो सदा ही मिलने-जुलने में संकोचशील रहा हूं। परंतु श्रद्धेय मालवीयजी का व्यवहार ही इतना मधुर और आकर्षक था कि वह दूरी को रहने ही नहीं देता था। मालवीयजी महाराज के द्वार सदा खुले रहते थे। प्रायः उनके कमरे के बाहर कोई प्रतीक्षा करने की ड्योढ़ी भी नहीं होती थी। उनकी रुग्णावस्था को छोड़कर शेष दशाओं में मैंने दरवाजे पर कभी रोक-टोक का अनुभव नहीं किया। यह असाधारण सामाजिकता मालवीयजी के चरित्र की सबसे पहली और बड़ी विशेषता थी।

सबसे पहली बार मालवीयजी के दर्शन मैंने शिमला में किये। भाई हरिश्चंद्रजी और मैं एक वर्ष पूर्व ही स्नातक बने थे। हम दोनों भाई पूज्य पिताजी के साथ आर्य-समाज शिमला के उत्सव पर गये। उन दिनों हिंदू विश्वविद्यालय के कार्य के लिए मालवीयजी शिमला गये हुए थे और सनातन धर्म सभा के भवन में ठहरे हुए थे। पिताजी के साथ हम दोनों उनसे मिलने गये। जब हम लोग वहां पहुंचे, तो वह नाई से क्षौर करवा रहे थे। बीच-बीच में नाई को हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना की आवश्यकता और उसके मूल सिद्धांतों के संबंध में जानकारी भी देते जाते थे। तभी हम लोग पहुंच गये। बातचीत का सिलसिला और लंबा हो गया। परिणाम यह हुआ कि जो क्षौर दस मिनट में समाप्त हो जाना चाहिए था, वह लगभग एक घंटे तक खिंच गया। उस समय प्रातःकाल के नौ बजे होंगे, मालवीयजी के प्राइवेट सेक्रेटरी ने कुछ हिच-किचाते हुए घड़ी दिखाकर निवेदन किया, "महाराज, आपने नौ बजे का समय बीकानेर के महाराज को मिलने के लिए दिया हुआ है, वह आपकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे और आपने अभी स्नान भी नहीं किया।" उनपर इस याददिहानी का कोई असर नहीं हुआ। उन्होंने उत्तर दिया, "भाई, देखते नहीं हो कि मैं इस भाई को (नाई की ओर इशारा करके)

विश्वविद्यालय की आवश्यकता समझा रहा हूं ? क्या यह काम कुछ कम जरूरी है ? महाराज को कहला भेजो कि मैं उनसे इस समय नहीं मिल सकूंगा। कल शाम को मिलूंगा।"

प्राइवेट सेक्रेटरी मालवीयजी के समय-विभाग में ऐसे परिवर्तनों का अभ्यस्त था। चुपचाप चला गया और बीकानेर नरेश के पास समय-परिवर्तन की चिट्ठी लिख दी। प्रतीत होता है कि नरेश लोग भी उस तपस्वी ब्राह्मण के भेजे हुए ऐसे साधारण लोकप्रथा के विरुद्ध आदेशों के अभ्यस्त थे। इस कारण कोई गड़बड़ नहीं हुई और मालवीयजी की नाई से और हम लोगों से इकट्ठी बातचीत लगभग दस बजे तक जारी रही। बातचीत का विषय वही था—हिंदू विश्वविद्यालय !

इसी प्रसंग में एक और घटना मुझे याद आगई। यह घटना शायद पहली घटना से २२ वर्ष पीछे की है। मैं दिल्ली की जिला कांग्रेस कमेटी का प्रधान था। मालवीयजी असेंबली के अधिवेशन में भाग लेने के लिए दिल्ली आये हुए थे और नई दिल्ली के एक बंगले में ठहरे हुए थे। दो दिन पीछे कांग्रेस की ओर से गांधी मैदान में एक बड़ी सभा होनेवाली थी। नेताओं को उसका निमंत्रण देने के लिए मैं प्रातःकाल ही घर से चल दिया और सूर्योदय के समय नई दिल्ली जा पहुंचा। जनवरी का महीना था। खूब कड़ाके की सरदी पड़ रही थी।

पहले पं० मोतीलाल नेहरू के बंगले पर पहुंचा। मैं उस उषा-काल में नेहरूजी के द्वार पर पहुंचने में बहुत ही डर रहा था। मशहूर था कि वह कांग्रेस के नेता हो जाने पर भी विलायती ढंग से रहते हैं। मुझे डर था कि मैं कहीं ऐसे समय पर न पहुंच जाऊं, जब मुझे उपाध्यायजी से यह उत्तर मिले कि अभी पंडितजी सो रहे हैं। मुझे संतोष-मिश्रित आश्चर्य हुआ, जब बाहर के कमरे में बैठे हुए उपाध्यायजी ने मुझे बैठने का इशारा करते हुए कहा, "आप बड़े अच्छे समय पर आगये। पंडितजी डाक का काम समाप्त करके बाहर जानेवाले ही थे, मैं अभी उन्हें खबर देता हूं कि आप आये हैं।"

पाठक यह तो समझ ही गये होंगे कि उपाध्यायजी पं० मोतीलाल नेहरू के प्राइवेट सेक्रेटरी थे और उनके साथ छाया की तरह रहते थे। उन्हें

यह भी मालूम था कि पं० मोतीलालजी का मुझपर ऐसा ही प्रेम है, जैसा पिता का पुत्र पर होता है।

उपाध्यायजी ने अंदर जाकर खबर दी, तो मुझे उसी समय बुला लिया गया। अंदर जाकर देखा कि पंडितजी बाहर जाने के लिए बिलकुल तैयार बैठे थे और उनके सामने मेज पर लिखे हुए पत्रों का एक ढेर रखा था।

बातचीत में शायद दो ही मिनट लगे। मैंने सभा का निमंत्रण दिया, पंडितजी ने उसे स्वीकार कर लिया और बस। मैंने खड़े होकर नमस्कार किया और बाहर चला आया।

वहां से मैं मालवीयजी के बंगले पर पहुंचा। उस समय वह बंगले के बरामदे में खड़े संस्कृत पाठशाला के एक विद्यार्थी से बातें कर रहे थे। कंधों पर शाल पड़ा हुआ था, परंतु सिर सरदी के लिए खुला था। बाहर कड़ाके की ठंड पड़ रही थी। उसमें खड़े हुए मालवीयजी उस झगड़ालू विद्यार्थी को यह समझा रहे थे कि अछूतों को 'ओम् नमः शिवाय' मंत्र का दान करने में कोई पाप नहीं है। मेरे पहुंचने पर भी वह सिलसिला जारी रहा। इतना भेद अवश्य आ गया कि पहले जो बातें वह केवल उस विद्यार्थी से कर रहे थे, वे अब हम दोनों से होने लगीं। लगभग आध घंटे तक यह वाक्-संघर्ष जारी रहा। मालवीयजी का धैर्य और विद्यार्थी को समझा लेने का संकल्प तथा उस विद्यार्थी का उग्र हठ और न मान लेने का दृढ़ निश्चय, दोनों ही आश्चर्य में डालनेवाले थे। अंत में विद्यार्थी परास्त हुआ, पर उसकी पराजय युक्ति के कारण नहीं थी, अपितु सरदी के कारण थी। तपस्वी बुजुर्ग जिस सरदी को अपने आंतरिक उत्साह की गरमी से सह रहा था, वह विद्यार्थी उससे परास्त हो गया और बातचीत का सिलसिला बीच में ही छोड़कर विदा हो गया। उसके जाने पर मालवीयजी को ध्यान आया कि सरदी है, अंदर जाकर मुझसे कहा, "भाई, जरा बैठो, मैं सरदी उतार लूं।" यह कहकर आप रजाई में घुस गये और लगभग १५ मिनट तक गरमी लेने के पश्चात करवट बदलकर मेरी ओर देखा और कहा, "बराबर तीन दिन से इस विद्यार्थी को मैं समझा रहा हूं, परंतु इसकी समझ में नहीं आता।

प्रतीत होता है, अभी और समझाना पड़ेगा।" मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि मालवीयजी का न परास्त होनेवाला आशावादी हृदय न सरदी से परास्त हुआ, न उस विद्यार्थी की ढिठाई से। उस समय मुझे वह दिन याद आ गया, जब मैंने पहली बार मालवीयजी के दर्शन किये थे। उस समय नाई को विश्वविद्यालय की उपयोगिता समझाने की जिस प्रबल इच्छा से उनको प्रेरित देखा था, आज २२ वर्ष पीछे उसी इच्छा-शक्ति को उसी वेग से काम करता देखकर मेरा मस्तक आदर से झुक गया।

इस घटना से एक बात स्पष्ट हो जाती है, और वह ऐसी बात है, जिसे प्रायः सारा भारतवर्ष जानता है। वह बात यह है कि कार्य करने का जो ढंग साधारण रूप से सर्व-सामान्य समझा जाता है, मालवीयजी का ढंग उससे बिलकुल अलग था। माना जाता है कि बहुधंधी व्यक्तियों को समय-विभाग बनाना चाहिए और उसके अनुसार कार्य करना चाहिए। नेताओं को मिलने-जुलने का समय निश्चित रखना चाहिए, ताकि अन्य कार्यों में विक्षेप न हो। यह संभव है कि मालवीयजी के प्राइवेट सेक्रेटरी अपनी नोटबुक में समय-विभाग तथा अन्य रिवाजी चीजें नोट करके रखते हों, परंतु उस तपस्वी ब्राह्मण का मानसिक बल उन सबको रौंदता हुआ चलता था। वह इतनी उग्रता से अनुभव करते थे कि जब हृदय काम करने लगता था, तब समय-विभाग-जैसी कृत्रिम वस्तु उसके रास्ते को नहीं रोक सकती थी। मालवीयजी का मस्तिष्क बहुत ऊंचे दर्जे का था। वह अद्भुत वक्ता और अनथक परिश्रमी थे, परंतु इन सबसे बढ़कर उनकी यह विशेषता थी कि उनका हृदय स्त्रियों से भी अधिक भावुक था। जब हृदय किसी ओर लग जाता था, तब कोई बाधा उनकी गति को नहीं रोक सकती थी। यही मालवीयजी के चमत्कारिक चरित्र का रहस्य था।

मालवीयजी हिंदी के महान वक्ता तो थे ही, उस समय के अंग्रेजी के तीन-चार भारतीय वक्ताओं में उनकी गिनती होती थी। पहले-पहल जब वह कांग्रेस के मंच पर आये, उनकी आयु तीस साल के लगभग होगी। उनके पहले भाषण को सुनकर कांग्रेस के एक बुजुर्ग नेता ने उन्हें 'सिल्वर टंग ओरेटर' (उच्च श्रेणी के वक्ता) की उपाधि दी थी। उनके भाषण

की बड़ी विशेषता यह थी कि वह श्रोताओं के अंतस्तल में प्रवेश करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देते थे। सब बातें ऐसे मीठे ढंग से कहते थे कि श्रोताओं के कानों में बिना किसी प्रतिरोध के घुस जायें। अप्रिय या खटकनेवाली बात एक भी नहीं कहते थे। कोई अप्रिय बात कहनी ही पड़े, तो उसे इतने परदों में लपेटकर कहते थे कि कोई कोना बाहर न रह जाय और चुभे बिना हृदय तक चली जाय। उनके भाषण में भाषा का प्रवाह सुरेंद्रनाथ या विपिनचंद्रपाल की तरह बाढ़ बनकर नहीं बहता था, शीत ऋतु की भरी हुई गंगा के प्रवाह की तरह हलकी-सी गूंज करता हुआ अनवरत बहता था।

मालवीयजी की व्याख्यान-कुशलता पूर्ण रूप में उस समय प्रकट होती थी, जब कभी उन्हें अ० भा० कांग्रेस कमेटी में महात्मा गांधी के कानून-भंग-संबंधी प्रस्ताव का विरोध करना पड़ता था। मालवीयजी और महात्माजी का परस्पर भाइयों का सा स्नेह-संबंध था। दोनों एक-दूसरे का आदर करते थे, प्रेम भी करते थे और अनेक मुख्य सिद्धांतों पर एक-दूसरे से असहमत भी रहते थे। महात्माजी के भाषण के पश्चात जब मालवीयजी उनके प्रस्ताव के विरोध में बोलने के लिए खड़े होते थे, तो प्रायः प्रारंभ में महात्माजी के प्रति अपनी श्रद्धा और सत्याग्रह में अपनी आस्था प्रकट करते थे। इस कार्य में प्रायः आधा घंटा व्यतीत हो जाता था, उसके पश्चात श्रोता लोग एक 'किंतु' की प्रतीक्षा करने लगते थे। वह 'किंतु' उनकी वक्तृता के मार्ग का मोड़ होता था। उस किंतु के पश्चात वह अपने भाषण के पूर्वार्द्ध का उत्तर देते थे और अंत में महात्माजी के प्रति श्रद्धा की भावना को दोहराकर उनके प्रस्ताव का पूरा विरोध कर देते थे। ऐसे कुशल वक्ता को अपना पूरा अभिप्राय प्रकट करने के लिए अधिक समय लग जाय, यह स्वाभाविक ही था। मालवीयजी प्रायः बहुत लंबा बोलते थे, परंतु उनका व्यक्तित्व इतना आकर्षक तथा भाषा और भाषण-शैली इतनी सुंदर थी कि कोई श्रोता थकने का नाम नहीं लेता था। बहस का अंतिम परिणाम यह होता था कि महात्माजी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया जाता था। मालवीयजी की उत्कृष्ट देश-भक्ति और उदारता का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि प्रस्ताव

के स्वीकार हो जाने पर वह उसे शिरोधार्य कर लेते थे और सत्याग्रहियों की अगली पंक्ति में खड़े हो जाते थे। इस विरोध और स्वीकृति का रहस्य यह था कि मालवीयजी का मस्तिष्क नरम राजनीतिज्ञों की तरह दूरदर्शिता और सावधानी से पूर्ण था, परंतु हृदय स्त्रियों और बच्चों से भी अधिक भावुक था। वह अनंत सहानुभूति का आगार था। कई राजनैतिक तथा सामाजिक मंतव्यों में पुरातन पद्धति के अनुयायी होते हुए भी कार्यक्षेत्र में वह आगे बढ़ने में युवकों को भी मात दे देते थे।

यह बात प्रसिद्ध हो गई थी कि मालवीयजी विचारों में सनातन होते हुए भी क्रिया में सुधारक हैं। यह उनकी सामान्य प्रवृत्ति थी कि वह यथा-संभव भूतकाल से संबद्ध रहने का यत्न करते थे। परंतु जब अनुभव कर लेते थे कि पीछे रहना देश के लिए हानिकारक है, तब तेजी से चल-कर अगली पंक्ति में पहुंच जाते थे। इसी असाधारण विशेषता का परि-णाम था कि वह रेल पकड़ने के लिए घर से प्रायः देर में चलते थे। परंतु यह बात मैंने उन्हींके मुंह से सुनी थी कि कभी उनकी गाड़ी नहीं छूटी।

मालवीयजी के रेल पर देर-देर में पहुंचने के अनेक किस्से प्रसिद्ध हैं। सन १९२४ की बात है। वर्तमान युग में हिंदू-मुस्लिम एकता की जन्मभूमि दिल्ली में सांप्रदायिक उपद्रव की अग्नि प्रज्वलित हुई देख-कर महात्मा गांधी और देश के अन्य नेता उसे बुझाने के लिए यहां एकत्र हुए। उस समय मालवीयजी भी आये और बिड़ला मिल की सब्जी मंडी-वाली कोठी में ठहरे। सन १९२४ में दिल्ली के हिंदू-मुस्लिम झगड़े का केंद्र सदर बाजार ही था। वह बाजार तीन-तीन हिस्सों में बंटा हुआ है। पहला वह, जहां बड़े-बड़े मुसलमान सौदागरों की दूकानें थीं। उसके आगे पहाड़ी धीरज की बस्ती है, जिसमें जाट, गूजर, अहीर, माली आदि जातियों के लोगों की अधिकता है। पश्चिमी किनारे पर हिंदूराव का बाड़ा है, जो मुस्लिम-प्रधान था। अब भी कसावघर की समीपता के कारण वहां कसाइयों की आबादी बहुत अधिक है। आबादी की इस परिस्थिति के कारण शहर में थोड़ा-सा भी सांप्रदायिक-विक्षोभ होने पर सदर बाजार में घरू युद्ध की भेरी बजने लगती थी। सन १९२४ में भी ऐसा ही हुआ था।

एक दिन संध्या के समय सदर बाजार पहाड़ी धीरज की एक चौपाल में इलाके के प्रमुख हिंदुओं की एक पंचायत बुलाई गई थी। उसमें मालवीयजी भी पधारे थे। शांति-स्थापना के संबंध में विचार करते-करते बहुत देर हो गई। रात के लगभग नौ बज गये। मुझे मालूम था कि पंडितजी साढ़े नौ बजे की गाड़ी से बाहर जानेवाले हैं। मैंने उन्हें याद दिलाया कि समय हो रहा है, अब बातचीत समाप्त कीजिये। परंतु पंडितजी की तसल्ली अभी नहीं हुई थी। उन्होंने बातचीत का सिलसिला जारी रखा। सामान स्टेशन पर जा चुका था। सेक्रेटरी को आज्ञा थी कि वह रिजर्व की हुई सीट पर बिस्तर बिछा छोड़े। इस कारण कुछ अटपटी बात होते हुए भी मुझे फिर याद दिलाना पड़ा कि गाड़ी का समय हो रहा है। चलिये, इस समय सवा नौ बज चुके हैं। पंडितजी ने हाथ के इशारे से मुझे रोकते हुए बातचीत जारी रखी। जब साढ़े नौ बज गये, तब फिर एक बार घड़ी सामने रखकर उन्हें याद दिलानी पड़ी। इसका कुछ असर हुआ और वह बातचीत का सिलसिला समाप्त करके खड़े हो गये। मोटर में बैठकर उन्होंने मुझे इन शब्दों में आश्वासन दिया, "यह समझना गलत है कि केवल हम ही लेट होते हैं, क्योंकि ट्रेनें भी प्राय: लेट होती हैं।" आपने अपने अनुभव के आधार पर कहा, "ट्रेन मनुष्य से भी अधिक लेट होती है। यही कारण है कि देर होने पर भी मेरी गाड़ी शायद ही कभी छूटी हो। यदि कभी छूट भी गई, तो मेरा काम नहीं रुका।" इस कथन की पुष्टि में उन्होंने अपनी एक अनुभूत घटना सुनाई, जो इतिहास का अंग होने के योग्य है।

वह घटना तब हुई थी, जब भारत के वाइसराय लॉर्ड चैम्सफोर्ड थे। मालवीयजी को एक अत्यंत आवश्यक कार्य से ऐसी जगह जाना पड़ा, जहां इलाहाबाद से रेल द्वारा तीन-चार घंटों में पहुंचा जा सकता था। उसी दिन रात के समय उनका इलाहाबाद वापस पहुंचना अत्यंत आवश्यक था। शायद वह किसी सार्वजनिक सभा में सभापतित्व करनेवाले थे। उस जगह का कार्य समाप्त करके इलाहाबाद वापस आने के लिए वह स्टेशन पहुंचे, तो मालूम हुआ कि जिस गाड़ी से इलाहाबाद जाना चाहिए था, वह निकल चुकी है। उनके सुदीर्घ जीवन में यह घटना

अपवाद ही समझनी चाहिए, क्योंकि स्टेशन पर देर से पहुंचने पर भी गाड़ी उन्हें मिल ही जाती थी। पर उस दिन अनहोनी हो ही गई! वह लेट हो गये, गाड़ी लेट नहीं हुई। फिर भी वह आशा का सूत्र छोड़नेवाले नहीं थे। उन्होंने स्टेशनमास्टर से पूछा कि क्या और कोई गाड़ी, चाहे मालगाड़ी ही हो, इलाहाबाद के लिए मिल सकती है या नहीं। स्टेशन-मास्टर ने उत्तर दिया कि मालगाड़ी आनेवाली, परंतु वह दूसरे स्टेशन पर रुक गई है, क्योंकि वाइसराय की स्पेशल यहां से गुजरनेवाली है। इससे भी निराश न होकर मालवीयजी ने पूछा कि क्या वाइसराय की स्पेशल यहां नहीं ठहर सकती। स्टेशनमास्टर ने बतलाया कि स्पेशल ट्रेन यहां नहीं ठहरेगी बशर्ते कि लाइन क्लीयर देने में ही कोई भूल न हो जाय। अन्यथा उसे किसी प्रकार भी ठहराया नहीं जा सकता।

इसपर मालवीयजी ने उसे सुझाया कि क्या यह संभव नहीं कि लाइन क्लीयर देने में ही चूक कर दी जाय, जिससे ट्रेन यहां ठहर जाय। जब स्टेशनमाटर ने यह आशंका प्रकट की कि ऐसा करने से लाइन क्लीयर देनेवाले पर आपत्ति आ सकती है, तो मालवीयजी ने उसे आश्वासन दिया कि मैं ऐसा नहीं दूंगा।

बात तय हो गई। लाइन क्लीयर देनेवाले आदमी ने अपना हाथ इतनी दूर रखा कि ट्रेन को लाइन क्लीयर न मिल सका। गाड़ी स्टेशन पर खड़ी हो गई। मालवीयजी प्लेटफार्म पर ही खड़े थे। झट उस डिब्बे के सामने जा पहुंचे, जिसमें वाइसराय बैठे हुए थे। वाइसराय ने मालवीय-जी को देखकर बाहर मुंह निकालते हुए पूछा, "हैलो पंडित! आप यहां कहां?" मालवीयजी ने उत्तर दिया, "मैं यहां इलाहाबाद वापस जाने के लिए खड़ा था। आपकी स्पेशल ट्रेन के कारण गाड़ियां रुक गईं, जिससे मैं लटकता रह गया।" वाइसराय ने सज्जनता को निभाते हुए कहा, "आइये, मेरी गाड़ी में आ जाइये। मैं आपको इलाहाबाद पहुंचा दूंगा। मालवीयजी बिना किसी शिष्टाचार अथवा संकोच के वाइसराय के डिब्बे में बैठ गये। साथ ही बातचीत के सिलसिले में गाड़ी रोकने की पूरी कहानी सुनाकर बिचारे सिगनलर की सफाई भी कर दी। इस तरह स्टेशन पर देर में पहुंचने पर भी वह इलाहाबाद समय पर पहुंच गये। ऐसी घटनाओं

ने उनके आत्म-विश्वास को बहुत अधिक बढ़ा दिया था। उन्हें यह अटल विश्वास-सा हो गया था कि शीघ्र या विलंब में कार्य अवश्य सिद्ध होगा।

यह घटना पंडितजी ने हमको सदर से दिल्ली स्टेशन की ओर जाते हुए रास्ते में सुनाई। स्टेशन पर जाकर देखा कि गाड़ी सचमुच दस-ग्यारह मिनट लेट थी, मानो मालवीयजी की प्रतीक्षा में ही सीटियां दे रही थी।

इसी प्रकार की एक और घटना इलाहाबाद स्टेशन की है। मालवीयजी बांकीपुर के कांग्रेस-अधिवेशन में जा रहे थे। उनसे कुछ दिन पहले ही दिल्ली में लार्ड हार्डिंग पर बम गिराने की घटना हुई थी। उस दिन सायंकाल के समय प्रयाग में बम फेंकनेवाले की निंदा करने लिए विराट सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया था। सर सुंदरलाल उसके सभापति थे। मालवीयजी उसी दिन दिल्ली से प्रयाग पहुंचे थे। सभा में मुख्य भाषण उन्हींका हुआ। मैं भी दिल्ली से उनके साथ ही प्रयाग गया था और ठहरा भी उन्हींके पास था। सभा में जाते समय वह यह आदेश दे गये थे कि उनका सामान समय से पहले स्टेशन पर पहुंचा दिया जाय और बिस्तर बिछा रखा जाय। मालवीयजी के प्राइवेट सेक्रेटरी के साथ मैं सभा से जल्दी उठ गया और हम दोनों सामान लेकर स्टेशन पर पहुंच गये। आज्ञानुसार सब-कुछ कर दिया गया। नौकर को सर्वेंट्स के डिब्बे में बिठाकर हम दोनों प्लेटफार्म पर मालवीयजी की प्रतीक्षा करने लगे। गाड़ी के छूटने का समय हो गया, गार्ड ने सीटी बजाई, फिर हरी झंडी दिखाई और गाड़ी चलने लगी। तब हम लोगों को सामान की चिंता हुई। सेक्रेटरीसाहब ने डिब्बे में घुसकर मालवीयजी का बिस्तर लपेटा और बाहर फेंक दिया। नौकर भी नीचे उतर आया। सारा सामान प्लेटफार्म पर उतारकर सेक्रेटरी महोदय भी कूदकर ट्रेन से उतर आये। उस समय गाड़ी के लगभग आधे डिब्बे प्लेटफार्म से बाहर जा चुके थे। गाड़ी अकस्मात रुक गई। हम लोग देखने लगे कि गाड़ी रुकने का क्या कारण हुआ। देखते क्या हैं कि आगे-आगे मालवीयजी और उनके पीछे-पीछे डॉ० भगवानदास प्लेटफार्मों पर बने हुए पुल पर से गाड़ी की ओर भागे आ रहे हैं। पाठक विश्वास रखें कि 'भागे' शब्द का प्रयोग मैंने

अतिरंजना में नहीं किया। दोनों महानुभाव वस्तुतः भागे आ रहे थे। दोनों के दायें हाथ गाड़ी को रोकने के लिए ऊपर उठे हुए थे। वहां सभी लोग मालवीयजी को पहचानते थे। उन्हें आते देखकर स्टेशनमास्टर ने गाड़ी को लाल झंडी दिखला दी। गाड़ी खड़ी हो गई। सामान फिर से डिब्बे में लगा दिया गया और मालवीयजी के पीछे-पीछे मैं भी गाड़ी पर सवार हो गया।

इस घटना से यही परिणाम निकलाना चाहिए कि भगवान अपने भक्तों के काम किसी-न-किसी तरह संवार ही देता है।

मालवीयजी का सबसे बड़ा गुण था हृदय की कोमलता। उनके मस्तिष्क की असाधारण महत्ता को कौन नहीं जानता, परंतु इसमें संदेह नहीं कि उनका असली मार्गदर्शक उनका हृदय ही था। जब कभी उनके मस्तिष्क और हृदय में संघर्ष होता था, तपस्वी ब्राह्मण के हृदय की ही जीत होती थी। मेरे कथन का यह अभिप्राय नहीं कि मालवीय-जी के मस्तिष्क की शक्ति किसी अन्य सामयिक भारतवासी से न्यून थी, अपितु अभिप्राय यह है कि 'इतिकर्तव्यता' निश्चय करने के समय उनका हृदय मस्तिष्क से अधिक बलवान सिद्ध होता था।

इसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूं कि मुझे उनकी सहृदयता का अनुभव करने के कई अवसर मिले। यहां मैं उनमें से केवल दो अनुभव देता हूं।

पहली घटना तब की है, जब मैं परिवार-सहित अपनी कन्या को हिंदू विश्वविद्यालय में प्रविष्ट कराने बनारस गया था। गाड़ी लगभग दिन के १२ बजे बनारस पहुंची। गुरुकुल के अनुभव से मेरा ऐसा विचार बना हुआ था कि प्रत्येक बड़ी सार्वजनिक संस्था में अतिथियों के ठहरने का स्थान तो होना ही चाहिए। इसी धारणा से एक बंद गाड़ी पर सब सामान लादकर हम लोग विश्वविद्यालय जा पहुंचे। पहले महिला आश्रम के द्वार पर पहुंचे। वहां की अधिष्टात्री पूर्व-परिचिता थीं। उन्होंने सलाह दी कि ठहरने के बारे में आप लोग वाइस-चांसलरसाहब से मिलिये। उन दिनों एक काश्मीरी सज्जन विश्वविद्यालय के भाग्य-विधाता थे। उनके बंगले पर गाड़ी ले जाकर मैंने अपना कार्ड भेजा, तो एक मद्रासी क्लर्क ने आकर पूछा कि क्या काम है। यह उत्तर देने पर कि कन्या को

दाखिल कराने आये हैं, कुछ घंटों के लिए सामान रखने और नहाने-धोने के लिए जगह चाहिए, उत्तर मिला कि ऐसा कोई स्थान यहां नहीं। एक अतिथि-गृह है, परंतु वह एक राजासाहब के लिए रिजर्व हो चुका है, जो परसों आनेवाले हैं, आपके यहां ठहरने से वह खराब हो जायगा।

यह टका-सा जवाब पाकर गाड़ी का मुंह बनारस के रेलवे स्टेशन की ओर मोड़ देते, यदि लड़की को विश्वविद्यालय में दाखिल कराना न होता। जुलाई का महीना था। कड़ाके की धूप पड़ रही थी। छोटा बच्चा प्यास से परेशान था। अंत में लाचार होकर एक प्रोफेसर के यहां अनिमंत्रित अतिथि बनना पड़ा। उनके यहां सामान रखकर स्नान किया और विश्वविद्यालय के कार्यालय में पहुंचकर आवश्यक पूछ-ताछ की। जब मालूम हुआ कि कार्य पूरा करने के लिए एक-दो दिन ठहरना पड़ेगा, तो निश्चय किया कि पहले बाजार से चलकर खाना खाया जाय, फिर शहर में रहने की जगह तलाश की जाय।

जब विश्वविद्यालय से बाहर जाने लगे, तो रास्ते में एक बंगले के द्वार पर मालवीयजी का साइनबोर्ड दिखाई पड़ा। मालवीयजी तब कार्य छोड़ चुके थे। मुझे मालूम था कि उनका शरीर बहुत निर्बल हो गया है। नाम देखकर एकदम मन में विचार उठा कि यदि उनको असुविधा न हो, तो उन्हें प्रणाम करते चलें। अंदर जाकर देखा, उनके सेक्रेटरी पंतजी विराजमान हैं। वह बड़े प्रेम से मिले। प्रणाम करने की बात पूछने पर उन्होंने कहा कि इस समय बाबू भोजन कर चुके हैं, शायद ही मिल सकें, उनका आराम करने का समय है। इतना उत्तर देकर पंतजी ने अनुभव किया कि यह उत्तर संसार की दृष्टि से ठीक होता हुआ भी मालवीय-शिष्टाचार के अनुसार उचित नहीं हुआ। सीधा इन्कार मालवीय-शिष्टाचार में वर्जित था। मेरी निराशा को हल्का करते हुए पंतजी ने कहा, "ठहरिये, मैं बाबू से पूछकर आता हूं।" जब पंतजी पूछकर आये, तो उनके चेहरे पर मुस्कराहट थी। "चलिये, बाबू ने बुलाया है,"—यह कहते-कहते वह आगे आगे चले।

अंदर जाकर जो दृश्य देखा, तो दिल बैठ-सा गया। मैंने मालवीयजी को कई वर्षों बाद देखा था। वह सौम्य मूर्ति, जो सदा सीधी [illegible]

देती थी, थकान, बीमारी और बुढ़ापे के कारण झुक गई थी। सुनने और बोलने में भी कष्ट अनुभव होता था। यह तो शरीर का हाल था, परंतु जब बातचीत हुई, तो मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उस निर्बल शरीर में वही बलवान मस्तिष्क और उससे भी बलवान हृदय विद्यमान है। उन्होंने पूछा, "कहां ठहरे हो ?" यह प्रश्न हिंदू विश्वविद्यालय में मुझे बिलकुल नया प्रतीत हुआ। मैंने उत्तर दिया, "अभी तो कहीं नहीं ठहरे। सामान एक जगह रख दिया है।" मालवीयजी ने कहा, "क्यों ? क्या ठहरने को कोई स्थान नहीं मिला ?"

इस प्रश्न के उत्तर में मैंने संक्षेप से अपनी-बीती सुना दी। सुनाते हुए यह ध्यान रखा कि किसीकी शिकायत न होने पाये। फिर भी मेरी कहानी का उनपर जो असर हुआ, उसे देखकर मुझे पछतावा हुआ कि मैंने वह कहानी क्यों सुनाई ! उनकी आंखों में पानी झलकने लगा। उन्होंने नौकर को इशारा करके अपने पौत्र पं० श्रीधर मालवीय को बुलवाया और कहा, "यह कितने दुख की बात है कि इंद्रजी परिवार-सहित यहां आयें और ठहरने को कोई स्थान न मिले। इस बंगले के ऊपर दोनों कमरे अभी साफ करवाकर रहने के योग्य कर दिये जायं और भोजन का प्रबंध भी यहीं होगा।" यह स्पष्ट था कि जहां मालवीयजी का यह आदेश उनकी सहृदयता और विशालता का उज्ज्वल सबूत था, वहां उससे लाभ उठाना हम लोगों की स्वार्थपरायणता और अमानुषिकता का प्रमाण होता। मैंने और मेरी पत्नी ने प्रतिवाद करने के लिए इकट्ठा मुंह खोला, तो उन्होंने हाथ के एक निश्चयात्मक इशारे से हमें चुप कर दिया और श्रीधरजी को सब प्रबंध जल्दी कर देने का आदेश देकर विदा कर दिया।

इस सारी घटना में मालवीयजी के हृदय का वह स्पंदन झलक रहा था, जो उनके सुदीर्घ परोपकारी जीवन का मुख्य प्रेरक था। हम लोगों ने विश्वविद्यालय के समीप ही श्री शिवप्रसाद गुप्त के बंगले पर अपना सामान रख दिया और श्रीधरजी को सूचना दे दी कि हमारी प्रतीक्षा न करें।

अब मैं मालवीयजी के अंतिम दर्शनों का थोड़ा-सा वृत्तांत सुनाकर इस प्रकरण को समाप्त करता हूं। मालवीयजी शरीर की निर्बलता

और वृद्धावस्था की अवहेलना करके महात्मा गांधी और अन्य राष्ट्रीय नेताओं तक अपने मुंह से अपना मनोभाव पहुंचाने के लिए सन १९४६ के मध्य में दिल्ली पधारे थे और अपने सुपुत्र पं० गोविंदकांत मालवीय के पास ठहरे हुए थे। मैं अपनी दो कन्याओं के साथ उनके दर्शनों के लिए उपस्थित हुआ। गोविंदकांतजी ने बड़े प्रेम से हमारा अभिनंदन किया और मालवीयजी से आज्ञा प्राप्त करके हमें अंदर ले गये। अंदर जाकर भारतीय राष्ट्र के उस भीष्म पितामह को मानो शरशय्या पर पड़े हुए पाया। शरीर झुककर दोहरा हो गया था। चेहरे पर निर्बलता का पूर्ण अधिकार था और बोलने में बहुत कष्ट अनुभव हो रहा था। सिरहाने की ओर गोविंदकांतजी खड़े थे और पैताने की ओर राधाकांत-जी। अत्यंत क्षीण स्वर हो जाने पर भी उनके होठों के इशारे को गोविंद-कांतजी समझते प्रतीत होते थे। मैंने देखा कि उनके हृदय और मस्तिष्क पर शरीर की असमर्थता का बहुत ही कम असर था। वह प्रत्येक बात को बिलकुल स्पष्टता से समझते और पहले की भांति अनुभव करते थे। उनकी आंखें और होठ हृदय के दर्पण बने हुए थे। हमारे प्रणाम का उसी प्रेम से उत्तर दिया। दिल्ली की परिस्थिति के बारे में वैसे-ही कुशल प्रश्न किये और आत्मरक्षा के लिए तैयार रहने की वैसी-ही प्रेरणा दी, जैसी बीस वर्ष पहले दिया करते थे। मुस्कराये भी और आंसू भी बहाये। जब कन्याओं ने प्रणाम किया, तो उन्होंने मुझसे पूछा कि इनके पास आत्म-रक्षा का कोई साधन भी है या नहीं। साथ ही राजपूताने का कोई प्रसिद्ध पद बोला, जिसे मैं याद नहीं रख सका। उस समय बड़े-से-बड़े प्रकृति-वादी को भी मानना पड़ता कि आत्मा शरीर से अलग और ऊंची वस्तु है। शरीर जर्जरित हो गया था, परंतु आत्मा युवा थी।

: ६ :

लाला लाजपतराय

प्रायः देखा गया है कि कुछ व्यक्तियों से अनेक वार मिल चुकने पर भी जव कभी उनसे साक्षात्कार होता है, तव हमें उन्हें पूरी तरह पहचानने के लिए अपनी स्मृति को कुरेदना पड़ता है, परंतु इसके विपरीत कई व्यक्तियों से साक्षात्कार हुए विना ही उनसे हमारा परिचय इतना वढ़ जाता है कि पहली वार मिलने पर भी कोई नवीनता मालूम नहीं होती। मेरे जीवन में साक्षात्कार के विना पूर्ण परिचय के दो वहुत महत्वपूर्ण अनुभव हुए हैं। पहला अनुभव लाला लाजपतरायजी के संवंध में और दूसरा लोकमान्य तिलक के संवंध में हुआ। यद्यपि दोनों महापुरुषों के साक्षात दर्शन से पूर्व के परिचयों का रंग भिन्न-भिन्न था, तो भी उन रंगों की गहराई एक-सी थी। लालाजी के संवंध में मेरे प्रारंभिक विचार प्रतिकूलता के थे और लोकमान्य के संवंध में गहरी अनुकूलता के। परंतु परिणाम दोनों का एक-सा ही हुआ। जव मुझे दोनों महापुरुषों के साक्षात दर्शन का और निकट परिचय का सौभाग्य प्राप्त हुआ, तो मैं उनका भक्त वन गया। भक्त से मेरा यह अभिप्राय है कि मैं उन्हें जितना वड़ा समझता था, उससे भी वड़ा पाया। मनुष्य चाहे वड़ा हो या छोटा, गुणों और दोषों का पुंज है। निर्दोष तो केवल ईश्वर है, परंतु जहां मूल रूप में गुण और आनु-षंगिक रूप में दोष हों, वहां गुणों की ही प्रधानता हो जाती है और वस्तुतः गुण ही भक्ति के मूल स्रोत हैं। जव हम किसी महापुरुष के चरित्र का चित्रण करने लगते हैं, तव श्वेत और कृष्ण दोनों पहलू सामने आते हैं, परंतु जो चित्र वनता है, उसका महाकवि कालिदास ने इन दो पदों में सुंदरता से वर्णन कर दिया है :

एको हि दोषो गुणसन्निपाते ।
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः ।।

—जैसे पूर्ण चंद्रमा की उज्ज्वल किरणों में काला धब्बा डूबकर विलीन हो जाता है, वैसे ही अनेक गुणों की चमक से दबकर एक दोष भी परोक्ष हो जाता है ।

लालाजी के परोक्ष दर्शन मैंने वचपन में ही कर लिये थे। मेरी आयु पांच-छः वर्ष की होगी । उन दिनों मेरे पिताजी (महात्मा मुंशीरामजी) जालंधर में वकालत करते थे, परंतु उनका अधिक समय आर्य-समाज के कार्य में व्यतीत होता था। उसी कार्य का एक हिस्सा यह भी था कि वह हर सप्ताह एक या दो दिन के लिए लाहौर जाया करते थे । हम लोग घर में सुना करते थे कि लाहौर में आर्य-समाज के दो दलों में झगड़ा हो गया है, जिनकी ओर से हर सप्ताह एक-दूसरे का उत्तर देने के लिए व्याख्यान होते हैं । दोनों दलों के मुख्य व्याख्याताओं में एक पिताजी थे और दूसरे लाला लाजपतरायजी । वच्चों की वुद्धि ही कितनी होती है ? जितनी उनकी दुनिया, उतनी वुद्धि ! वच्चों के लिए वड़प्पन का आदर्श उनके पिता और प्रेम का आदर्श उनकी माता होती हैं । हम जव सुनते थे कि लाला लाजपतरायजी इतने अच्छे व्याख्याता हैं कि उनका उत्तर देने के लिए पिताजी को हर सप्ताह लाहौर जाना पड़ता है, तो हम यह सोचते थे कि लालाजी कोई वहुत अच्छे आदमी नहीं हो सकते । पिताजी जिस पार्टी के नेता थे वह 'महात्मा पार्टी' कहलाती थी, और लालाजी जिसके मुख्य प्रवक्ता थे, उसका नाम 'कल्चर्ड पार्टी' रखा गया था । हम वच्चे यही समझते थे कि 'कल्चर्ड' विकट प्राणी होते हैं, जो हमारे पिताजी को परेशान करते रहते हैं !

वहुत वर्षों तक मुझे लालाजी का इतना ही परिचय रहा । पार्टियों का संवंध धीरे-धीरे ठंडा पड़ गया और उसके साथ ही उस प्रकार का परिचय भी धुंधला पड़ गया । कुछ वर्षों के पश्चात जव वंग-विच्छेद के कारण देश की राजनीति गरम हुई, तव लालाजी का नाम समाचार-पत्रों में आने लगा । उस समय मेरी आयु भी अधिक समझने योग्य हो गई थी। सरकार ने लालाजी के वढ़ते हुए प्रभाव से घवराकर उन्हें निर्वासित कर दिया

और वहां से वापस आकर विदेश जाने पर उनके देश में आने पर प्रतिबंध लगा दिया। तब नवयुवकों के हृदय स्वभावतः उनकी ओर झुकने लगे, जिससे आर्य-समाज की दलबंदी की कड़वी स्मृतियां बहुत-कुछ धुल गईं। तो भी एक कांटा दिल में चुभता रहा। लाला लाजपतरायजी डी०-ए० वी० कालेज के मुख्य स्तंभ थे और हम लोग गुरुकुल में शिक्षा पा रहे थे। समझा जाता था कि डी० ए० वी० कालेज और गुरुकुल में शाश्वतिक विरोध है, क्योंकि गुरुकुल की स्थापना डी० ए० वी० कालेज की शिक्षा-प्रणाली के प्रतिवाद-रूप में हुई थी। इस आधार पर यह भावना बनी हुई थी कि लालाजी अवश्य ही गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के विरोधी होंगे। एक इस आशंका को छोड़कर जब मुझे गुरुकुल में उनके प्रथम दर्शन का अवसर प्राप्त हुआ, शेष सब आशंकाएं लगभग दूर हो चुकी थीं और मेरे हृदय पर लालाजी के व्यक्तित्व का उज्ज्वल चित्र बन चुका था। पंजाब में यह बात प्रसिद्ध हो गई थी कि इस वर्ष गुरुकुलोत्सव पर लालाजी को आमंत्रित किया गया है और उन्होंने गुरुकुल जाना स्वीकार कर लिया है। लालाजी तब अमरीका से अपने देश लौट आये थे। इस समाचार ने आर्य-जनता को विशेष रूप से उत्सव की ओर आकृष्ट कर दिया। लालाजी गुरुकुल पहुंचे, तो उन्हें भीड़ ने ऐसा घेर लिया कि उनसे मिलना तो क्या, उन्हें देखना तक कठिन हो गया। साक्षात्कार तब हुआ, जब वह दलितोद्धार सम्मेलन की अध्यक्षता करने के लिए व्याख्यान-मंच पर पधारे। इतनी घोर तपस्या करने के पश्चात गुरुकुल की व्याख्यान-वेदी पर लालाजी का आना उपस्थित जनता के उत्साह को उत्तेजना की पराकाष्ठा तक पहुंचा देने के लिए पर्याप्त था। उनके खड़े होने पर आठ-दस मिनट तक सारा मंडप तालियों और जयकारों से गूंजता रहा।

मेरी उत्सुकता के दो केंद्र थे, एक लालाजी की मूर्ति और दूसरी उनकी भाषण-कला। प्रसिद्ध व्यक्तियों को देखने की अभिलाषा में बड़ा अंश उनके शरीर, वेशभूषा और अनुभव को देखने का होता है। उसमें कोई नवीनता न मिली। उस समय भी लालाजी लगभग उसी परिस्थिति में थे, जिसमें उन्हें चित्रकारों ने चित्रित किया है। सिर पर पंजाबी साफा, वह भी बनियायी ढंग का, बंद गले का कोट और पंजाबी ढंग का न बहुत

खुला और न बहुत तंग पायजामा। चेहरा गोलाई लिये हुए और मूंछें खूब भरी हुईं। यह था लाला जी का वेश, जिसमें अद्भुतता या नाटकीयता कुछ भी नहीं थी। यदि ध्यान को आकृष्ट करनेवाली कोई विशेष वस्तु थी, तो वह उनके नेत्र थे, जिनमें भावुकता और तेजस्विता की सम्मिलित रोशनी झलकती थी। कुछ विशिष्टता होठों में भी थी। उनके होठ सुवक्ताओं के होठों के नमूने थे। करतल-ध्वनि का शोर समाप्त हुआ, तो लालाजी ने अपना भाषण आरंभ किया। श्रोता लोग यह जानने को उत्सुक थे कि लालाजी अपनी प्रिय संस्था डी० ए० वी० कालेज से गुरुकुल का समन्वय कैसे करेंगे। लालाजी के प्रारंभिक वाक्य मुझे पूरी तरह याद हैं। उन्होंने कहा, "मुझे जब गुरुकुल की ओर से यहां आने का निमंत्रण मिला, तब मैंने उसे खुशी से मंजूर कर लिया। डी० ए० वी० कालेज से मेरा उसकी पैदायश के समय से ही रिश्ता है। यह रिश्ता बाप और बेटे-जैसा है। मैं डी० ए० वी० कालेज को अपनी औलाद की तरह प्रेम करता हूं, लेकिन गुरुकुल से मेरा प्रेम दूसरी तरह का है। मैं उससे ऐसा प्रेम करता हूं, जैसा एक प्रेमी को अपनी प्रेमिका से होता है।" यह वाक्य पूरा भी नहीं होने पाया था कि पंडाल तालियों की ध्वनि से गूंज उठा। इतना समयोचित और इतना महत्वपूर्ण उत्तर एक पैदायशी वक्ता ही दे सकता था। पता नहीं, उस समय लालाजी की आंखों में आंसू थे या नहीं, परंतु श्रोताओं में से बहुतों की आंखों में हर्ष के अश्रु दिखाई दे रहे थे। गुरुकुल के भक्तों के हृदय की धुक-धुक एक ही वाक्य में शांति हो गई थी।

मैंने अपने जीवन में उससे पहले भाषा और स्वर का इतना गहरा प्रभाव कभी अनुभव नहीं किया था। लालाजी हिंदुस्तानी भाषा के पूरे स्वामी थे और स्वर तो उन्हें अपूर्व मिला था। मैंने उसके पश्चात अनेक सुवक्ताओं के जोशीले भाषण सुने, परंतु उनसे मेरे मन पर से उस दिन पड़ा हुआ वह प्रभाव न मिट सका कि लालाजी अपने समय के सर्वोत्कृष्ट वक्ता हैं। सुवक्ता में जिन गुणों की आवश्यकता होती है, लालाजी में वे सब प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे। भव्य आकृति, भरा हुआ चेहरा और ओज से भरपूर आंखें, यह पहली विभूति थी, जो भगवान की ओर

से लालाजी को प्राप्त हुई थी। दूसरी विभूति असाधारण थी। वह थी उनकी आवाज। मैंने बहुत सोचा कि उनकी आवाज की क्या उपमा दी जाय। शंख का स्वर भारी होता है, सिंह का गर्जन भयानक होने के कारण डरा सकता है, रुला नहीं सकता और वाद्य की ध्वनि में गरज नहीं होती। लालाजी के स्वर की निकटतम उपमा किसी कुशल धनुर्धारी द्वारा प्रयुक्त धनुष की टंकार से दी जा सकती है, जिसके उतार-चढ़ाव प्रयोक्ता के वश में रहते हैं। लालाजी का स्वर कर्कश न होता हुआ भी तीव्र और ऊंचा था। जब बहुत ऊंचा उठता था, तब श्रोताओं के हृदयों के आर-पार हो जाता था। लालाजी वाणी के जादूगर थे, एक ही भाषण में श्रोताओं को हंसाना, रुलाना और उत्तेजना की पराकाष्ठा तक पहुंचा देना उनके बायें हाथ का खेल था।

इन जन्मसिद्ध विभूतियों का लालाजी ने बहुत यत्नपूर्वक संस्कार किया था। व्याख्यान देने की कला का उन्होंने कलाकारों की भांति अभ्यास किया था। परिणाम यह था कि वह अपने समय में हिंदुस्तानी के सर्वोत्कृष्ट वक्ता बन गये।

वक्ता के वाक्यों का प्रभाव बहुत परिमित होता है, यदि उनके पीछे चरित्र और जनसेवा का बल न हो। केवल शब्द स्थायी और गहरा असर उत्पन्न नहीं कर सकते। लालाजी के तार-स्वर के पीछे लंबे त्याग, सेवामय और उन्नत चरित्र का बल था। जब वह शिक्षा समाप्त करके हिसार में वकालत करने लगे थे, तभी से उनकी प्रवृत्ति सार्वजनिक कार्यों की ओर अधिक थी। ज्यों-ज्यों उनका जीवन आगे बढ़ता गया, वह सार्वजनिक सेवामय होता गया, राजनीति में, धार्मिक क्षेत्र में और दीन-दुखियों की सेवा में, जहां भी उन्होंने प्रवेश किया, कार्यकर्ताओं की अगली पंक्ति में आ गये। तन, मन और धन का कोई भाग सेवा-कार्य से बचाकर न रखा। ऐसा महान जीवन था, जो लालाजी के तेजस्वी शब्द को अमोघ वाणी की शक्ति प्रदान करता था। एक समय आया. जब लालाजी और पंजाब एकार्थवाची हो गये। उस समय स्वाभाविक ही था कि देश-भर ने निर्विवाद रूप से लालाजी को 'पंजाब केसरी' की उपाधि से विभूषित किया।

गुरुकुल में हुए दर्शन के पश्चात कई वर्ष व्यतीत हो गये, जिनमें मेरा लालाजी से विशेष संपर्क नहीं रहा। १९२६ में जब संपर्क हुआ, तब परिस्थिति में बहुत परिवर्तन आ गया था। उस वर्ष धारा सभाओं के नये चुनाव होनेवाले थे। कांग्रेस अपने उम्मीदवार खड़े कर रही थी। लालाजी, जो इससे पूर्व असेंबली में कांग्रेस के प्रतिनिधि बनकर गये थे, १९२१ से १९२५ तक होनेवाले हिंदू-मुस्लिम संघर्ष की घटनाओं से इतने प्रभावित गये थे कि १९२५ में होनेवाले चुनाव के प्रसंग में कांग्रेस से अलग हो गये और पं० मदनमोहन मालवीय के साथ मिलकर नैशनलिस्ट पार्टी द्वारा चुनाव लड़ने की तैयारी कर रहे थे। लालाजी-जैसे पुराने और प्रमुख कांग्रेसी का इस प्रकार कांग्रेस से अलग होकर नई पार्टी बनाना और कांग्रेस के विरोध में लड़ना देशवासियों को आश्चर्य-जनक प्रतीत हुआ था। परंतु जो लोग लालाजी की तबीयत को जानते थे, उन्हें कोई आश्चर्य नहीं हुआ। लालाजी में भावुकता की प्रधानता थी। उनकी शानदार वक्तृता का यह भी एक रहस्य था। उनके मस्तिष्क और हृदय में प्रायः संघर्ष हो जाया करता था, जैसाकि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में समय-समय पर होता रहता है। लालाजी के अंदर जब ऐसा संघर्ष उग्र रूप धारण कर लेता था, तो उसमें जीत हृदय की होती थी। हिंदू-मुस्लिम संघर्ष के दिनों में हिंदुओं पर जो आपत्तियां आईं, उन्होंने लालाजी के हृदय को इतना विचलित कर दिया था कि कुछ वर्ष पूर्व का गरम लाल (बाल-लाल-पाल की त्रिमूर्ति का एक सदस्य) नरग मालवीयजी के साथ मिलकर अलग चुनाव लड़ने के लिए उद्यत हो गया।

चुनाव के अवसर पर दिल्ली में भी कांग्रेस और नैशनलिस्ट पार्टी का जोरदार संघर्ष हुआ। मैं कांग्रेस का समर्थक था। लालाजी दिल्ली आकर पिताजी से मिले और उनपर जोर दिया कि वह मुझे नैशनलिस्ट पार्टी के उम्मीदवार के लिए कार्य करने का आदेश दें। लालाजी और पिताजी कोई काम अधूरे मन से करने के आदी नहीं थे। प्रातःकाल ही आदमी भेजकर मुझे पिताजी के निवास-स्थान पर बुलाया गया। 'तेज' के संपादक लाला देशबंधु गुप्ता उस वर्ष नैशनलिस्ट पार्टी के पक्ष में काम कर रहे थे। वह भी उस समय विद्यमान थे। पिताजी चुप रहे। लालाजी

ने मुझे जो कुछ समझाया, उसका अभिप्राय यह था, "इस समय प्रत्येक हिंदू का कर्तव्य है कि वह चुनाव में नैशनलिस्ट पार्टी की मदद करे। दिल्ली से हम लोगों ने ला० शिवनारायण वकील को खड़ा किया है। स्वामीजी भी उन्हींका समर्थन कर रहे हैं। मैं उम्मीद करता हूं कि तुम भी लाला शिवनारायण के पक्ष में ही कार्य करोगे।"

मेरे सामने धर्म-संकट था। लालाजी और स्वामीजी दोनों ही मेरे लिए पूज्य थे। मैं उनकी बात को कैसे टाल सकता था ? परंतु दूसरी ओर मेरे अंदर की आवाज थी। वह कहती थी कि इस चुनाव में कांग्रेस के विजयी होने से ही देश का कल्याण होगा। मैंने लालाजी से निवेदन किया कि मेरे लिए आपकी आज्ञा उतनी ही मान्य है, जितनी स्वामीजी की, परंतु ऐसे मंतव्य-संबंधी विषयों में स्वामीजी ने मुझे सदा स्वतंत्र रखा है। इसी बल पर मैं अपने मंतव्य के अनुसार चलने का साहस करता रहा हूं। मुझे आशा है, आप भी मुझे यह अधिकार दे देंगे कि मैं अपनी आत्मा की आवाज को अनसुना न करूं। मेरा मंतव्य यह है कि राजनैतिक चुनाव में कांग्रेस का समर्थन करना प्रत्येक भारतवासी का प्रथम कर्तव्य है।

मैंने देखा कि मेरी बात सुनकर लालाजी ने बुरा नहीं माना, अपितु उन्होंने हल्के से अभिमान-मिश्रित संतोष के साथ स्वामीजी की ओर देखा। स्वामीजी की स्वीकृति मिलने पर लालाजी मुझसे बोले, "इंद्र, जो अधिकार तुम्हें स्वामीजी ने दे रखा है, उसे मैं कैसे छीन सकता हूं ? तुम अपने विचार के अनुसार ही कार्य करो, परंतु याद रखो कि इस चुनाव में तुम्हें कामयाबी न होगी।"

चुनाव खूब जोर से लड़ा गया। परिणाम किसीके लिए भी संतोष-जनक न निकला। न कांग्रेस का उम्मीदवार सफल हुआ, न नैशनलिस्ट पार्टी का। कामयाब हो गये एक तीसरे महानुभाव, जिन्होंने हिंदू हितों के नाम पर हिंदू नेताओं को धता बताई थी।

व्यक्तिगत रूप से लालाजी को उस चुनाव में जो सफलता प्राप्त हुई, वह निराली थी। लालाजी पंजाब के तीनों में से दो हलकों से चुनाव के लिए खड़े हुए और दोनों में कांग्रेस को पछाड़ दिया। उनकी इस शानदार

सफलता ने सिद्ध कर दिया कि पंजाब में सेवाओं और तपस्या के कारण लालाजी का व्यक्तित्व संस्थाओं की अपेक्षा बहुत बड़ा हो गया था।

१९२६ के अंत में वह घटना हुई, जिसने एक बार सारे देश को विचलित कर दिया था। एक धर्मांध मुसलमान की गोली से स्वामी श्रद्धानंदजी अमर हो गये थे। गत कई वर्षों में स्वामीजी और लालाजी का बहुत निकट संबंध हो गया था। १८९५ के प्रसिद्ध प्रतिद्वंद्वी हकीकी भाइयों से भी अधिक आत्मीय हो गये थे। समाचार सुनते ही लालाजी लाहौर से दिल्ली पहुंचे और लाला दीवानचंद ठेकेदार के नई दिल्लीवाले मकान में ठहरे। मैं दर्शनों को उपस्थित हुआ। मेरे एक और मित्र भी साथ थे। लालाजी आंसुओं से रो रहे थे। थोड़ी देर तक बोल न सके, जब कुछ शांत हुए, तो जो पहला वाक्य कहा, उसका अभिप्राय यह था, "इंद्र, काश कि अब्दुलरशीद की गोली के सामने मेरी छाती होती और मुझे वह मौत नसीब होती, जो स्वामीजी को हुई!"

उस वाक्य में लालाजी की सहृदयता से पूर्ण और शहादत की प्यासी अंतरात्मा बोल रही थी। प्रभु ने कई वर्ष पीछे उनकी वह महत्वाकांक्षा पूरी कर दी। उन्हें भी वैसी ही मृत्यु दिलाई, जिसके वह अधिकारी थे। लाहौर में साइमन कमीशन के विरुद्ध जो जलूस निकाला गया, उसका नेतृत्व करते हुए पंजाब केसरी अत्याचारी के प्रहार से आहत हुए और अपने पुण्य कर्मों के अनुसार वीर गति को प्राप्त हो गये। मुझे लालाजी के निधन के समाचार से ऐसा अनुभव हुआ, मानो पिताजी को दूसरी बार शहादत प्राप्त हुई हो।

: ७ :

डॉक्टर अन्सारी

लगभग ३५ वर्षों के सार्वजनिक जीवन में मेरा जिन नेता कहलाने-वाले महानुभावों से परिचय हुआ है, उनमें से जिसके स्वच्छ स्वभाव और सज्जनतापूर्ण व्यवहार की मेरे हृदय पर सबसे गहरी छाप है, वह हैं डॉ० अन्सारी। वह मेरे बुजुर्गों की श्रेणी में थे, परंतु उनका स्मरण करते हुए मुझे वैसा आतंक अनुभव नहीं होता, जैसा महात्मा गांधी या पं० मोतीलालजी का स्मरण करते समय होता है। डॉ० अन्सारी की जो चीजें याद आती हैं, वे हैं उनकी मुस्कराती हुई शानदार मूर्ति, उनका प्रेम-भरा सहृदयता का व्यवहार और उनकी उदारता। उनकी याद करके आज भी दिल भर आता है।

१९१८ के अंत में दिल्ली में कांग्रेस का वृहद अधिवेशन होनेवाला था। स्वागतकारिणी सभा बन गई थी। स्वागताध्यक्ष के चुनाव का मामला पेश था। उन दिनों अजमेर-मेरवाड़ा भी दिल्ली प्रांत में शामिल था। अजमेर और दिल्ली के लगभग २०० स्वागत-सदस्य रायबहादुर सुल्तानसिंह की कोठी के सुंदर टेनिस कोर्ट में एकत्र हुए थे। अजमेर के रायसाहव चंडिकाप्रसाद सभापति थे। कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों को छोड़कर यह पहली राजनैतिक सभा थी, जिसमें मैं सम्मिलित हो रहा था। दिल्ली में नया था, लोग मुझे पहचानते नहीं थे और मैं भी बहुत कम लोगों को पहचानता था। कांग्रेस में उस समय बूट-सूट-युग का दौर-दौरा था। दिल्ली के प्रायः सभी प्रसिद्ध डॉक्टर और वकील बढ़िया विलायती सूट से सजे हुए वहां विराजमान थे। मैं उन्हें देखकर पड़ोसियों से उनके नाम पूछता था। उस सभा में जो व्यक्ति मैंने पहली बार देखे और देखते ही जिनके चित्र मेरे हृदय-पटल पर खिंच गये, उनमें से तीन

मुख्य हैं। सबसे पहले मैंने रायबहादुर लाला सुल्तानसिंह को देखा। उनकी विशाल मुस्कराती हुई आकृति का मुझपर बहुत असर पड़ा। फिर मैंने मि० आसिफ़अली को देखा। उनका नाम समाचार-पत्रों में आना शुरू ही हुआ था। उनको देखने की मेरे मन में बड़ी उत्सुकता थी। सभापति ने उनके नाम की घोषणा की, तो एक दर्शनीय मूर्ति बोलने के लिए खड़ी हुई। सिर पर लखनवी ढंग की दुपल्ली टोपी, सुंदर सफेद अचकन और तंग पायजामा, पैरों में तिलई जूता, बोलने में अजीब नजाकत और नफासत। पुराने चोले में से नई भाषा सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ और मनोरंजन भी। सभा के अंत में डॉ० अन्सारी आये। मैंने दूर से देखा कि एक रोबीली मूर्ति आगे बढ़ रही है। वह मूर्ति अबतक मेरी आंखों के सामने घूम रही है। उन दिनों डॉ० अन्सारी तुर्की टोपी पहना करते थे। हंटिंग कोट और ब्रीचेज के साथ काला बूट खूब सजता था। दायें हाथ में एक छोटी-सी छड़ी थी। यह सिपाहियाना वेश शायद हंसी की वस्तु बन जाता, यदि उस चेहरे पर नजर न पड़ती। उस चेहरे पर अनवरपाशा की शान बरस रही थी। तेज भूरी आंखें, राजपूती मूछें दोनों ओर से ऊपर को चढ़ी हुई, सुडौल शरीर। वह वेश उस शरीर और चेहरे के लिए बना मालूम होता था। डॉक्टरसाहब उन दिनों मैडिकल मिशन के कार्य में नाम पाकर विदेश से वापस आये थे। जवानी का आलम था और हृदय में आशाओं की तरंगें थीं। वह मूर्ति देखते ही बनती थी। मैं तो बचपन से ही वीरता का पुजारी हूं। वीर मूर्ति, वीर शब्द और साहसिक काम मुझे पागल बना देते हैं। उसी समय से मैं डॉक्टर अन्सारी का अनुयायी और भक्त बन गया।

बहुत बरस बीत गये। मैं दिल्ली के सामाजिक जीवन का एक छोटा-सा पुर्जा बन गया। डॉक्टरसाहब को देखने और मिलने का अवसर प्रायः मिलता रहता था। उनमें मेरी श्रद्धा प्रतिदिन बढ़ती गई। उनके जो विशेष गुण मुझे खींचते थे, वे थे उनकी सज्जनता, निर्भीकता और राष्ट्रीयता। इन गुणों में प्रधान उनकी सज्जनता थी, जो उनके हरएक काम में मानो गुलाब छिड़क देती थी। डॉ० अन्सारी भारत के शायद सर्वोत्कृष्ट चिकित्सक थे। हिंदू-मुस्लिम एकता के कट्टर समर्थक। खरे राजनैतिक

नेता । एक तपस्वी वीर । उनमें ये सव गुण थे, परंतु इन सव गुणों को चमकानेवाला उनके जीवन का सार यदि कोई था, तो वह उनकी सज्जनता थी । उनका दिल सहानुभूति से भरा था । उनका शिष्टाचार कभी चूक नहीं सकता था । किसी वस्तु को देने से इन्कार करना उनके स्वभाव के विरुद्ध था । सवसे वड़ी वात यह थी कि वड़प्पन ने उनकी सज्जनता को कम करने की जगह वढ़ाया था । महत्ता प्रायः सज्जनता की शत्रु होती है । ज्यों-ज्यों लोग वड़े होते जाते हैं, उनकी तवीयत में साधारण व्यक्तियों के लिए रूखापन आता जाता है। परंतु डॉ० अन्सारी ज्यों-ज्यों वड़े होते गये, उनकी सज्जनता भी वढ़ती गई, यहांतक कि वह उनके सव गुणों पर छा गई । जव कोई चरित-लेखक उनके जीवन का विस्तार से विश्लेषण करेगा, तो उसे मालूम होगा कि यही सज्जनता उनकी उस वीमारी का कारण वनी, जिसने असमय में ही उनके प्राण ले लिये । वह किसी वस्तु के लिए इन्कार नहीं कर सकते थे । उनपर काम का इतना वोझ पड़ा कि उसने शरीर को जर्जरित कर दिया । आवश्यकता थी आराम की, परंतु जो दूसरों के लिए जीता हो, उसे आराम कहां ! न तन की सुध, न वदन की, न खाने की, न पीने की । वह काम करने की मशीन वन गये, क्योंकि किसीसे भी इन्कार करना उनके लिए संभव न था । वीमार देखने में रात के ९ वज गये हैं । पर एक मित्र ने निमंत्रण भेजा है। इन्कार कैसे करें ? मित्र का निमंत्रण पूरा करने में १२ वज गये । शरीर आराम चाहता है, पर महात्माजी की वीमारी का समाचार आया है । मरीजों और सवसे वड़े मरीज डॉ० अन्सारी की चिंता छोड़कर वर्धा चल देते हैं और आठ-दस दिन वहां लगा आते हैं । इसी प्रकार उनकी काया रोगों का घर वनती गई । काम के वोझ ने दिल को आराम न लेने दिया । दशा रोज विगड़ती गई और अंत में वही रोग उनके स्वर्गवास का कारण वना ।

१९२८ के अप्रैल मास में मैं फीरोजपुर जेल में कैद था। १९२७ की जून में काश्मीर गया । मेरी अनुपस्थिति में 'अर्जुन' में कुछ लेख और समाचार छप गये, जिन पर मुकदमा चलाया गया । मैं पत्र का मुद्रक और प्रकाशक था, इस कारण मुझे ५ वर्ष की कड़ी कैद की सजा

मिली, जो सेशन में ६ महीने की कैद के रूप में शेष रह गई। उसी सजा को मैं फिरोजपुर में काट रहा था। वहां मैं बीमार हो गया। लगभग १ महीने तक बुखार आता रहा। घरवालों को चिंता हुई और वे बीमारों की अंतिम शरण डॉ० अन्सारी के पास पहुंचे। डॉ० अन्सारी उस दिन अपनी एक मुसीबत में गिरफ्तार थे। बेगम अन्सारी सख्त बीमार थीं। उन्हें तेज बुखार हो रहा था। क्या करें? इन्कार कैसे करें? जिन्हें डॉ० अन्सारी देश का सेवक समझते थे, उनका इलाज बिना फीस ही करते थे। गरमी आरंभ हो चुकी थी। एक दिन की कमाई की कुर्बानी थी। सबसे बड़ी बात यह कि घर में बीमारी थी। पर डॉ० अन्सारी की सज्जनता अटल! वह फिरोजपुर गये। लगभग दो घंटे तक जेल में मेरे साथ बंद रहे। अपनी रिपोर्ट लिखकर जेल विभाग को दी और शाम की गाड़ी से वापस दिल्ली आये। डॉक्टरसाहब की राय थी कि यदि मुझे कुछ दिनों तक जेल में रहना पड़ा, तो मेरा बचना कठिन हो जायगा। डॉक्टरसाहब ने मेरे शरीर की पहली ही बार परीक्षा की थी। वहां एक्स-रे आदि का सामान तो था ही नहीं। बाहर से ही परीक्षा की गई थी। परंतु उस रिपोर्ट में मैंने एक चमत्कार की वस्तु देखी। डॉक्टरसाहब ने पेन्सिल से मेरी सांस की नली और फेफड़ों का चित्र खींचकर रिपोर्ट में नत्थी कर दिया। उस चित्र में डॉक्टरसाहब ने उन स्थानों पर निशान लगा दिया, जहां उनकी राय में खोखलापन आ गया था। जेल से बाहर आने पर मैंने विशेषज्ञों से और एक्स-रे से फेफड़ों की परीक्षा करवाई, तो डॉक्टरसाहब का खींचा हुआ नक्शा सही निकला। उस समय डॉक्टर अन्सारी जेल में न पहुंचते, तो मैं ऐसे रोग में फंसा हुआ था कि शायद ही बच सकता।

१९३३ में अप्रैल मास में फिर बीमार हुआ। बीमारी कॉलिक के दर्द से आरंभ हुई और रोजाना बुखार के रूप में परिणत हो गई। एक महीने तक बुखार आता रहा। रोज दिन के साथ बुखार चढ़ता था, सिर दर्द भी हो जाता था। रात के १०-११ बजे उतर जाता था। लगभग एक दर्जन डॉक्टरों और वैद्यों का इलाज हुआ। किसीने फेफड़ों का एक्स-रे करवाया, तो किसीने खून की परीक्षा करवाई। पर बुखार नहीं गया।

अंत में थककर डॉक्टर अन्सारी को दिखाने का निश्चय किया। पूछने पर डॉक्टरसाहव ने लिखा कि किसी दिन सायंकाल को ५ वजे आ जाओ। मैं उनकी कोठी पर पहुंचा। लगभग ४० मिनट तक मेरी शरीर-परीक्षा की। एक महीने से मेरा खाना, नहाना, चलना-फिरना सव वंद था। देखकर हंसते हुए उन्होंने कहा, "वैसे ही वीमार वने वैठे हो और खाना-पीना छोड़ रखा है! तुमको कोई खास वीमारी नहीं। पेट में खरावी है कि खाने वाद गरमी पैदा हो जाती है और वही वुखार वन जाता है। तुम्हें एक पुड़िया देता हूं। इसे खाने से एक घंटे पहले खा लेना और मौज से खाओ-पीओ, नहाओ-वोओ और खेलो-कूदो!"

मैं कमरे से वाहर आया, तो नीरोग हो चुका था। घर आकर पुड़िया खाई और नहा-वोकर पेट-भर खाया। उसके पश्चात कई वर्षों तक मुझे वह कष्ट नहीं हुआ। डॉक्टरसाहव का दिया हुआ नुस्खा और उसकी दो-चार वनी हुई पुड़ियां साथ रखता रहा। जरा तवीयत विगड़ी कि पुड़िया ले ली। दिल में विश्वास वैठा हुआ था कि जवतक यह दवा मेरे पास है, वीमार नहीं हो सकता!

उस दिन की एक और घटना याद है। अभी मैं डॉक्टरसाहव के पास नहीं पहुंचा था, वाहर प्रतीक्षा कर रहा था कि तांगे पर दमे की अपनी मरीज स्त्री को लेकर एक नौजवान हिंदू आया। स्त्री की हालत वहुत खराव थी। वह 'हाय मरी, हाय मरी,' कहकर चिल्ला रही थी और वेचारा पति आंखों में आंसू भरकर उसे दिलासा दे रहा था, "अरी, कैसे मरेगी! अभी डॉ० अन्सारी जिंदा है।" वेचारा पति तांगे पर से उतरकर मैनेजर के पास आया और अपनी दरख्वास्त पेश की। मैनेजर ने उत्तर दिया, "आज का सारा समय घिरा है।" फिर नोटवुक देखते हुए कहा, "कल भी वक्त नहीं। हां, परसों वक्त मिल सकता है, लेकिन फीस अभी देनी होगी।" वेचारा परसों का नाम सुनकर मानो आसमान से नीचे गिरा। वड़े विश्वास से आया था। यहां परसों की तारीख पड़ गई! स्त्री तो अव मर रही है, परसों क्या करूंगा! वेचारे ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की, मैनेजर के पैर छुए, पर मैनेजर टस-से-मस न हुआ और पूरी फीस की रकम वताकर उस वेचारे की कमर ही तोड़ दी।

वह कहीं दफ्तर में ४० रुपये माहवार पर नौकर था, पूरी फीस की रकम सुनकर रोने लगा। कहां जाय और किससे कहे ? डॉक्टरसाहब अंदर थे, वहां कौन जाने दे ? पर था वह हिम्मतवाला, वहीं जमा रहा, वापस नहीं गया।

इतने में मुझे डॉक्टरसाहब के पास बुलाया गया। मैंने मैनेजर-साहब की नाराजगी का पूरा खतरा उठाते हुए उस क्लर्क का किस्सा उन्हें सुना दिया। सुनते ही डॉक्टरसाहब की आंखें लाल हो गई और घंटी बजाकर मैनेजर को अंदर बुलाया। मैनेजर डरा हुआ आकर खड़ा हो गया। डॉक्टरसाहब ने बड़े रुष्ट स्वर में उसे डांटा, "ऐसा केस आने पर मुझे खबर क्यों नहीं देते ? मैंने कई बार कहा है कि ऐसे मरीज को मेरे घर से वापस न जाने दो और देखो, उससे कोई फीस न ली जाय।" मैनेजर के दिल की हालत न पूछिये। बेचारा कुछ न कह सका। 'जो हुक्म' कहकर बाहर गया और चुपके से उस क्लर्क को बुलाकर मरीज को अंदर ले जाने की अनुमति दे दी।

डॉक्टर अन्सारी की कोठी दिल्ली के राजनैतिक इतिहास में याद रहेगी। दरियागंज नं० १ में कई ऐसे मार्के की घटनाएं हुई, जिनको राष्ट्रीय प्रगति का इतिहास लेखक कभी नहीं भुला सकेगा। १९१९ में जब रौलट एक्ट और उसके बाद खिलाफत का आंदोलन जोर पर था, तब उस कोठी का मैदान आजाद पार्क बना हुआ था। सब बड़ी-बड़ी सार्वजनिक सभाएं वहीं हुआ करती थीं। उस कोठी के मैदान में ऐसी-ऐसी सभाएं हुई, जिनमें उपस्थित जनों की संख्या एक लाख तक कूती गई थी। जब जलसे के लिए कोई स्थान न मिलता था, तो डॉ० अन्सारी की कोठी तो थी ही।

१९२० के सत्याग्रह-संग्राम में सबसे अधिक शानदार गिरफ्तारी डॉक्टर अन्सारी के मकान पर ही हुई। दिल्ली में कांग्रेस वर्किंग कमेटी का अधिवेशन बुलाया गया था। कमेटी के सदस्य दिल्ली के भिन्न-भिन्न हिस्सों में ठहरे थे। कोई बिड़ला हाउस में, तो कोई अलीपुर रोड पर, परंतु अधिवेशन का स्थान डॉक्टर अन्सारी की कोठी पर रखा गया। जिस समय सरकार निर्लज्जता से भले-मानसों के शरीर और संपत्ति

पर कब्जा कर रही थी, उस समय अपनी लाखों की शानदार संपत्ति को खतरे में डाल देना उसी शेर का काम था। नियत अधिवेशन से पूर्व सब सदस्य विचार-विनिमय के लिए बिड़ला हाउस में इकट्ठे हुए। बिड़ला हाउस से डॉ० अन्सारी की कोठी लगभग तीन मील दूर होगी। दोनों के बीच का रास्ता वही शान दिखा रहा था, जो यूरोपियन महासमर में वर्डून के किले की शान होगी। कदम-कदम पर सिपाही। कोई साइकिल पर, तो कोई मोटर पर। रास्ते में बीसियों टेलीफोनों पर पुलिस कब्जा किये बैठी थी। नियत समय पर सब सदस्य कारों में बैठकर जुदा-जुदा रास्तों से डॉ० अन्सारी की कोठी की ओर रवाना हो गये। उस समय कोठी का दृश्य देखने योग्य था। दरवाजे के बाहर लोगों की भीड़ जमा थी। दूर पुलिस ताक लगाये बैठी थी। थोड़ी देर में सब सदस्य कोठी की बैठक में एकत्र हो गये और बाकायदा जलसा आरंभ हो गया। उसी समय दिल्ली-पुलिस के अफसर बड़ी सज-धज के साथ मोटरों में तशरीफ लाये और कई दर्जन सिपाहियों ने आकर कोठी को अंदर और बाहर से घेर लिया। लगभग १० मिनट में पुलिस के अधिकारी उस जगह पहुंच गये, जहां अधिवेशन हो रहा था और सब सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया। पं० मदनमोहन मालवीय, श्री विट्ठलभाई पटेल, डॉ० अन्सारी, डॉ० विधानचंद्र राय, दीपनारायण सिंह आदि दिग्गजों को एक ही ग्रास में लेकर सरकार बहुत प्रसन्न हुई होगी, परंतु उस गिरफ्तारी ने सत्याग्रह-आंदोलन को अपूर्व शक्ति प्रदान कर दी। वह १९३० के सत्याग्रह-संग्राम का एक जबरदस्त मार्का था। दरियागंज कोठी नंबर १ के शिला-स्तंभ पर वह मार्का स्वर्ण अक्षरों में लिखा जायगा।

अंत में सत्याग्रह-संग्राम का दौर समाप्त हुआ और महात्मा गांधी को लॉर्ड अरविन ने मिलने के लिए निमंत्रित किया। महात्मा गांधी अपने साथ सारी वर्किंग कमेटी को बुलाकर लाये। प्रश्न हुआ, वर्किंग कमेटी को ठहराया कहां जाय? उत्तर मिला, वहीं, जहां से यह गिरफ्तार हुई थी। निश्चय दिल्ली के स्वराज्य भवन, दरियागंज कोठी नंबर १, के पक्ष में हुआ। सारी वर्किंग कमेटी और वे सज्जन, जो वर्किंग कमेटी के आवश्यक परिशिष्ट समझे जाते थे, डॉ० अन्सारी की कोठी में ठहराये

गये। उन दिनों वह कोठी एक राष्ट्रीय तीर्थ बनी हुई थी। कोठी का विस्तृत मैदान तंबुओं और छोलदारियों से भरा हुआ था। हरएक प्रबंध डॉ० अन्सारी की ओर से था। सबके लिए भोजन तक का प्रबंध गृहपति ने किया था। लगभग एक सप्ताह तक राष्ट्रीय नेता डॉक्टरसाहब के मेहमान रहे। डॉ० अन्सारी सब जगह का ध्यान रखते थे। शाम को प्रार्थना के समय तो कोठी पर कभी-कभी हजारों की भीड़ हो जाती थी। जो आतिथ्य कई संस्थाएं मिलकर नहीं कर सकती थीं, वह अकेले डॉ० अन्सारी ने किया। सुनते हैं, उस समय जेलखाने के कारण डॉ० अन्सारी की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी। उस सप्ताह डॉक्टरसाहब का कम-से-कम दस हजार रुपया खर्च हुआ, जो कर्ज लेकर पूरा किया गया था। ऐसी दिक्कतों में से गुजरते हुए ऐसा शानदार आतिथ्य करने के लिए ज़ो विशाल और उदार हृदय चाहिए, वह डॉ० अन्सारी को भगवान ने दिया था। बड़े-से-बड़े डॉक्टर मिल सकते हैं, परंतु डॉ० अन्सारी की बराबरी का विशाल और सहानुभूतिपूर्ण हृदय रखनेवाला मनुष्य नहीं मिल सकता।

दो वर्ष व्यतीत हो गये। इस बीच ब्रिटिश राज्य की कूटनीति अपने असली रूप में प्रकट हो गई और १९३२ का आरंभ होते-होते भारतीय देशभक्तों ने अपने-आपको फिर जेल के लौह-द्वार के अंदर पाया। जिन लोगों पर सरकार ने सबसे पहले हाथ डाला था, उनमें डॉ० अन्सारी भी थे।

इस बार उन्हें दिल्ली जेल में ही रखा गया। कुछ ही दिन पीछे गिरफ्तार होकर मैं भी दिल्ली जेल में गया और मुझे कुछ समय तक निरंतर डॉक्टरसाहब के पास रहने का अवसर मिला। उस समय मैंने देखा डॉ० अन्सारी का चरित्र वह कुंदन सोना था, जिसे जितना ही परखकर देखो, अधिक चमक दिखाता है। उस समय की अनेक बातें मेरे हृदय पर अंकित हैं। उनमें से कुछ संस्मरण सुनाने का लोभ संवरण नहीं हो सकता।

डॉक्टरसाहब की आदत थी कि जितने लोग उनके पास ठहरे हों, उन्हें आराम देने का प्रयत्न करें। भोजन के समय तो यह असंभव था कि वह सब लोगों को भोजन के लिए न बुलायें। प्रायः सभी के घरों से खाना

आता था, परंतु इससे क्या ! डॉक्टरसाहव के घर से तीन टिफिन कैरियर भरे हुए आते थे, जिनमें उनके पास रहनेवाले सव व्यक्तियों की रुचि की कोई-न-कोई चीज रहती थी। जब कोई साथी वढ़ जाता था, तो उसकी रुचि जानकर उसके लिए तश्तरी वढ़ा दी जाती थी। डॉक्टरसाहव भोजन और चाय के समय सवको आवाज देकर अपने पास वुला लेते और साथ शामिल कर लेते। कभी-कभी तो हाथ में चाकू लेकर वैठ जाते। अमरूद या केले काटते, उनमें नींवू निचोड़कर और मसाला मिलाकर सवको परोसते। उन दिनों वह दांतों के कष्ट से वहुत पीड़ित थे, स्वयं कुछ खा-पी नहीं सकते थे, परंतु औरों को खिलाकर ऐसे प्रसन्न होते थे, जैसे घर की वड़ी दादी वच्चों को हंसता-खेलता देखकर प्रसन्न होती है।

एक वार ड्योढ़ी से समाचार आया कि मौलाना शौकत अली आये हैं और डॉ० अन्सारी से मुलाकात करना चाहते हैं। डॉक्टरसाहव ने कहला भेजा कि मुझसे मिलने मत आइये, मैं आपसे नहीं मिलूंगा। पर मौलाना रुकनेवाले कहां थे ! जेल के दफ्तर में आ ही तो गये। दफ्तर से डॉक्टरसाहव के पास खवर पहुंची। उस समय अपनी वैरक के पास एक छोटे-से मैदान में वैठे हुए सव लोग वातचीत कर रहे थे। डॉक्टर-साहव को यह सुनकर वड़ा दुख हुआ कि रोकने पर भी 'वड़े भैया' आ धमके हैं। अली-वंधुओं के व्यवहार से डॉक्टरसाहव वहुत नाराज थे। किसी दिन दोनों भाइयों का डॉ० अन्सारी से वड़ा कोई दोस्त न था। परंतु उनके राष्ट्रीय दल के विरोधी वन जाने से डॉक्टरसाहव वहुत खिन्न हो गये। उन्होंने इस अवसर पर तनिक भी मुलाहिजा न दिखाया। मिलने से साफ इन्कार कर दिया और वड़े मौलाना को अपना-सा मुंह लेकर वापस चले जाना पड़ा।

उपर्युक्त घटना के कुछ वर्षों के पश्चात मेरी पत्नी वहुत वीमार हो गईं। ऐसा रोग लगा कि उसने चार दिनों में ही परास्त कर दिया। वीमारी के पांचवें दिन शाम के समय ऐसी दशा हो गयी कि अव चलीं, अव चलीं। इलाज करनेवाले डॉक्टर निराश हो रहे थे, क्योंकि नाड़ी छूट रही थी। जवान लड़खड़ाने लगी थी और शरीर मानो गहरे आवर्त में डूव रहा था। ऐसे समय मुझे डॉ० अन्सारी याद आये। कोठी पर

टेलीफोन किया, तो मालूम हुआ कि शुक्रवार है, आज बीमारों को नहीं देखते। बाहर गये हैं। दो घंटे तक बराबर तलाश होती रही। अंत में शाम के ७ बजे के लगभग, जब बीमार शायद अंतिम सांस ले रहा था, डॉक्टर-साहब का एक डॉक्टर मरीज के यहां पता लगा। वहीं टेलीफोन किया, तो डॉक्टरसाहब लगभग १५ मिनट में आ पहुंचे। वह समय भूल नहीं सकता। डॉक्टरसाहब ने आकर मरीज को कोई १५-२० मिनट तक बड़े धैर्य से देखकर कहा, "घबराने की कोई बात नहीं। बस इतनी ही कमी है कि अभीतक देवीजी का रोग पहचाना नहीं गया था। अब पहचान लिया गया है। सब ठीक हो जायगा।" यह कहकर आपने रोगी की चारपाई की स्थिति को कुछ ठीक किया, दो-एक फालतू सिरहाने लगवाये और गरम पानी की बोतल को रखने को कहा। आधे घंटे में रोगी की दशा पलट गई, जैसे किसी चतुर मल्लाह ने आधी डूबी हुई किश्ती को चप्पू लगाकर संभाल लिया हो। देखनेवालों ने अनुभव किया, मानो डॉक्टर-साहब ने मरीज को मृत्यु के मुंह में से खींच लिया हो।

जब डॉ० अन्सारी की मृत्यु का समाचार सुना, तो मेरी पत्नी ने कहा, "अब कभी बीमार हुई, तो जीती नहीं बचूंगी। अब तो डॉ० अन्सारी भी नहीं रहे।"

ऐसे हजारों घर होंगे, जहां डॉ० अन्सारी की मृत्यु पर ऐसे ही भाव प्रकाशित किये गये होंगे।

: ८ :

बाबू शिवप्रसाद गुप्त

मैंने अबतक जिन महानुभावों से संबंध रखनेवाले अपने संस्मरण लिखे हैं, उनमें से मिस्टर आसिफ़अली को छोड़कर अधिकतर से मेरा विशेष रूप से सार्वजनिक संबंध ही था। वे मुझसे बड़े थे, अतः उनमें और मुझमें दो-तीन हाथ का अंतर होना स्वाभाविक था। शिवप्रसादजी से मेरा संबंध बहुत समीप का था। वह मुझे छोटा भाई मानते थे और मैं उन्हें बड़ा भाई। इस कारण उनके चित्रण में कुछ अधिक आत्मीयता का रहना स्वाभाविक ही है। फिर भी यह लिख देना अत्यंत आवश्यक समझता हूं कि शिवप्रसादजी उन व्यक्तियों में से थे, जिनके सार्वजनिक जीवन का महत्व उनके निजी गुणों पर आधारित होता है। गुप्तजी न बहुत बड़े वक्ता थे, न लेखक। यों वह व्याख्यान भी देते थे और लेख भी लिखते थे, परंतु उनका सार्वजनिक यश न व्याख्यानों के कारण था और न लेखों के कारण। वह तो उनके असाधारण रूप से उदार, सादे और भावुकतापूर्ण हृदय के कारण था।

मैं उनके संबंध में अपनी स्मृतियों का अंत से आरंभ करता हूं। मैं कलकत्ते के अखिल भारतीय हिंदी पत्रकार संघ के वार्षिक अधिवेशन से लौटता हुआ बनारस ठहरा। मुझे मालूम हो चुका था कि गुप्तजी का स्वास्थ्य अधिक गिर गया है। इस कारण मैं एक मित्र के यहां सामान रखकर 'सेवा-उपवन' के बंगले में पहुंचा। गुप्तजी ने अपने विशाल बंगले का नाम 'सेवा-उपवन' रखा था। यह भी उनके परोपकारी स्वभाव का एक चिह्न था। मेरे साथ बेटी स्नेहलता भी थी। दो वर्ष पूर्व स्नेह को हिंदू विश्वविद्यालय में एम० ए० की तैयारी के लिए प्रविष्ट कराते समय गुप्तजी को ही उसका स्थानीय अभिभावक बना आया था। जबसे

गुप्तजी की धर्मपत्नी का देहांत हुआ, वह 'सेवा-उपवन' के विशाल भवन में न रहकर पास ही बनी हुई कुटिया में रहते थे। कुटिया के द्वार के पास पहुंचने पर एक नर्स अंदर से निकली और उसने हाथ से रोकने का इशारा करते हुए कहा, "बाबू की तबीयत अच्छी नहीं है। वैद्य ने मिलना-जुलना बंद कर दिया है।" यह वाक्य नर्स ने बहुत ही धीरे से कहा, परंतु ग्यारह वर्ष से चारपाई पर पड़े हुए उस असाधारण रोगी से अनसुना न रह सका। अंदर से आवाज आई, "गुसांई, देखो कौन है ?"

मथुरा के गोस्वामी छोटेलालजी, बीमारी के दिनों में प्रायः गुप्तजी के पास रहते थे। वह बाहर निकलकर आये और हाथ के इशारे से बुलाकर हमें अंदर ले गये। अंदर घुसते ही गुप्तजी ने पूछा (उनका मुंह उस समय दूसरी ओर को था), "कौन है ?"

गोस्वामीजी ने उत्तर दिया, "इंद्रजी आये हैं।" मैंने नमस्ते की। गुप्तजी ने कहा, "आओ भाई, अच्छा हुआ मिल गये।" स्नेह ने भी नमस्ते की। गुप्तजी ने कहा, "नमस्ते बेटी, तू इंद्रजी के साथ आई है। पीछे क्यों नहीं आती रही ? ताऊजी का हाल नहीं पूछती रही।" स्नेह ने उत्तर दिया, "ताऊजी, मैं प्रायः आती रही हूं। घर में जाकर शशी से आपकी सेहत का हाल पूछ लेती थी।" शशी गुप्तजी की धेवती का नाम था।

हम लोग गुप्तजी के सामने जाकर बैठ गये। गुप्तजी ने फिर पुकारा, "अरे कौन है ?" एक नौकर ने आकर पूछा, "क्या है सरकार ?" गुप्तजी ने कहा, "अरे आम काटकर लाओ। इंद्रजी आये हैं, बेटी आई है।" नौकर चला गया। मैंने पूछा, "भाईजी स्वास्थ्य कैसा है ?" गुप्तजी ने उत्तर दिया, "भाई दिन काट रहा हूं। जितने कष्ट के दिन मेरे भाग्य में लिखे हैं, काटने ही होंगे।" यह पहली बार थी कि मैंने इस लंबी बीमारी में गुप्तजी के मुंह से निराशा की बात सुनी। मैं बीमारी में उनसे अनेक बार मिला। इससे एक वर्ष पूर्व भी मिला था। सेहत के बारे में प्रश्न करने पर वह प्रायः आशाजनक उत्तर दिया करते थे। प्रायः कहते थे, "अब पहले से अच्छा हूं, वैद्यजी कहते हैं, ठीक हो जाओगे।" इन उत्तरों से आशा झलकती थी। इस बार निराशाजनक उत्तर सुनकर मैंने गोस्वामी की ओर देखा। उन्होंने कहा, "न जाने क्यों, बाबू अब निराशा

की बात करने लगे हैं।" इस बीच गुप्तजी ने खूब जोर से पुकारा, "अरे कौन है ?" वही नौकर फिर उपस्थित हो गया।

गुप्तजी ने बड़ी नाराजगी के स्वर में कहा, "तुम सब मर गये क्या ? अभी तक इंद्रजी के लिए और बेटी के लिए आम नहीं आये।" नौकर को और भी बहुत सख्त-सुस्त कहने के बाद गुप्तजी ने गोस्वामीजी से कहा, "ये लोग कुछ काम नहीं करेंगे। तुम स्वयं जाकर सब चीजों का प्रबंध करो।"

गोस्वामीजी के साथ ही हम लोग भी खड़े हो गये। गोस्वामीजी ने कहा, "बाबू, बहुत अच्छा, मैं जाकर इन लोगों का इंतजाम अभी किये देता हूं।" हम सब लोग बाहर निकल आये। हमें बाहर जाते देखकर गुप्तजी ने कहा, "इंद्रजी, फिर मिलना। बिटिया, तू भी ताऊजी से मिलने के लिए आना।"

इस छोटी-सी मुलाकात में गुप्तजी के हृदय का चित्र खिंच जाता है। उनकी सावधानता, अतिथि-सेवा, उनका प्रेम—ये सब गुण उन लोगों के अनुभव की चीजें थीं, जो गुप्तजी के संपर्क में आते थे। ग्यारह वर्ष की बीमारी के बाद भी यदि कोई भावना थी, तो यह कि 'सेवा-उपवन' से कोई भी व्यक्ति अतिथि-सेवा के बिना न जाने पाये। हृदय में यह अभिलाषा थी कि दूसरों को जितना सुख दे सकें, दें।

दो वर्ष पूर्व जब मैं अपनी पत्नी के साथ स्नेहलता को हिंदू विश्वविद्यालय में दाखिल कराने गया था, तब गुप्तजी के घर-बार को व्यापक रूप से देखने का अवसर मिला था। सबसे अधिक हृदयस्पर्शी दृश्य वह था, जो रसोईघर में जाकर देखा। 'सेवा-उपवन' के रसोईघर का ठाठ राजाओं-जैसा था। वह रसोईघर साधारण हवेली से बड़ा ही थी। दोनों मंजिलों में दालान, कई बरामदे और दसों कोठरियां थीं। जब मेरी पत्नी वहां गईं, तो कई पुरानी नौकरानियों ने साथ ले जाकर सब चीजें दिखलाईं। इस कार्य में वे मानो बड़ा अभिमान और आनंद अनुभव कर रही थीं। यहां बहूजी बैठा करती थीं। यह कमरा अचार-मुरब्बों का था, जहां से मेहमानों के लिए अचार-मुरब्बे निकलवाया करती थीं। इस दालान में प्रतिदिन ब्राह्मणों को भोजन जिमाया जाता था, जिसे बहूजी

उस कमरे से चिक के पीछे बैठकर देखा करती थीं। इस कमरे में बहूजी दूध और दही रखा करती थीं। इस तरह के संस्मरण थे, जिन्हें बड़ी उत्सुकता से नौकरानियां सुना रही थीं। इसी बीच कई बार उनकी आंखों से आंसू बह गये। उनके भावों को देखकर मेरी पत्नी भी कई बार रोई। मेरी पत्नी ने उनसे पूछा, "अब तो यह रसोईघर खाली पड़ा है। तुम सब क्या करती हो?" उन्होंने उत्तर दिया, "जब बहूजी गुजरीं, तब सरकार ने हुक्म दे दिया था कि बहूजी मर गई तो क्या हुआ, मैं तो जिंदा हूं। बहूजी के सामने की सब नौकरानियां बहाल रखी जायं। उसी हुक्म के अनुसार हम गुजारा पा रही हैं। परमात्मा बाबू को सदा जिंदा रखे।"

इसी प्रसंग में मुझे कलकत्ता-कांग्रेस की एक बात याद आती है। यह वह कांग्रेस थी, जिसके साथ नेशनल कन्वेन्शन का अधिवेशन हुआ था। दोपहर का समय था। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन के पश्चात मैं एक मित्र के साथ किसी भोजनशाला की तलाश में निकला। देखा कि सामने से गुप्तजी तीन-चार मित्रों के साथ झूमते हुए आ रहे हैं। उनके विशाल शरीर पर बनारसी ढंग का खुला रेशमी कुरता खूब सजता था। उन्होंने देखते ही पूछा, "अरे भई, किधर जा रहे हो?" मैंने उत्तर दिया, "भोजन की तलाश में।" गुप्तजी ने कहा, "हम भी उसी तलाश में जा रहे हैं। चलो हमारे साथ।" हम साथ चल दिये। आगे बढ़े, तो दो और सज्जन दिखाई दिये। उन्हें भी गुप्तजी ने साथ लिया और इसी तरह साथी बटोरते-बटोरते गुप्तजी लगभग पच्चीस आदमियों की मंडली के साथ उस जगह पहुंचे, जहां भोजनशालाएं थीं। वहां इस प्रश्न पर विवाद शुरू हुआ कि किस प्रांत की भोजनशाला में खाना खाया जाय। सभी ने अपनी-अपनी प्रांतिक रुचि के अनुसार सिफारिश की। अंत में गुप्तजी ने व्यवस्था दी कि मद्रासी भोजनशाला में भोजन किया जाय। मद्रासी हम लोगों में कोई नहीं था। इसलिए सभी ने गुप्तजी के सुझाव को बढ़िया समझा और विवाद मिटाने का उत्तम उपाय मानकर स्वीकार कर लिया। सब लोग भोजनशाला में जाकर बैठ गये। गुप्तजी ने मैनेजर से सब बातें तय कर लीं। जब खाना परोसा जाने लगा, तो देखते क्या हैं कि प्रायः सभी प्रांतों की रुचि की चीजें परोसी

जा रही हैं। मैनेजर ने गुप्तजी के आदेशानुसार सब भोजनशालाओं से तरह-तरह की चीजें लाकर सबकी रुचि के अनुसार खाना खिला दिया।

सबसे पहले मुझे गुप्तजी को देखने का अवसर गुरुकुल में मिला। उन दिनों मैं गुरुकुल कांगड़ी में उपाध्याय का कार्य करता था। एक दिन देखा कि भारी शरीर के दो महानुभाव खुले रेशमी कुरते और धोती के वेष में गुरुकुल देखने आये हैं। उस समय हमें इतना ही पता चल सका कि ये दोनों बनारस से आये हैं और श्रीमती एनी बेसेंट के शिष्य हैं। दोनों महानुभाव गुरुकुल देखकर चले गये। उस समय कोई विशेष बात नहीं हुई।

कुछ दिन पश्चात गुरुकुलवासियों को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि उन सज्जनों में से एक बनारस के प्रसिद्ध विद्वान पं० भगवानदास के सुपुत्र बाबू श्रीप्रकाशजी थे, जो कुछ दिन पहले विलायत से बैरिस्टरी पास करके आये थे। दूसरे सज्जन का नाम था शिवप्रसाद गुप्त। यह सूचना उस लेख से मिली, जो गुरुकुल-यात्रा के संबंध में श्रीप्रकाशजी ने एक पत्र में लिखा। उस लेख में गुरुकुल की प्राचीन पद्धति को खूब आड़े हाथों लिया गया था। बहुत वर्ष पुरानी बात है और लेख सामने नहीं है, तो भी इतना स्मरण है कि इस मित्र-युगल ने प्रथम दर्शन में गुरुकुल की गति-विधि को पसंद नहीं किया था। उस लेख के प्रकाशित होने के पश्चात मेरे मन पर उस मित्र-युगल का प्रतिकूल प्रभाव ही रहा। वह प्रभाव तबतक कायम रहा, जबतक मैं गुरुकुल के लिए संस्कृत का एक अच्छा पंडित तलाश करने बनारस नहीं गया। बनारस जाते हुए मैं शिवप्रसादजी का पता नोट कर ले गया था। निजी परिचय न होते हुए भी मैं सीधा उन्हींके यहां पहुंच गया। उन दिनों बाबू शिवप्रसादजी नंदनसाहू की गलीवाले पुश्तैनी मकान में रहा करते थे। परिचय पाते ही शिवप्रसादजी ऐसे मिले, जैसे बचपन के साथी हों। मैं चार-पांच दिन तक वहीं रहा। जिन गुणों के लिए पीछे से शिवप्रसादजी देश-भर में विख्यात हुए, वे सभी गुण उनमें उस समय भी बीज-रूप में विद्यमान थे। उस समय की दो बातें छोटी होते हुए भी अबतक स्मरण हैं। उस समय शिवप्रसादजी की रसोई में जो खाना बनता था, उसमें मिर्चों की भरमार होती थी। मैं मिर्चें बिलकुल नहीं खाता था। इसलिए हरएक चीज दो तरह की बनती थी।

वह अपने खाने को 'खाना' और मेरे खाने को 'भोजन' कहा करते थे। दूसरी बात यह थी कि वह एक बहुत बड़े कमरे में बहुत मोटे-मोटे गद्दों पर अकेले ही सोते थे। मेरे सोने का प्रबंध उस बड़े कमरे के पास एक छोटे कमरे में किया गया था। पहली रात मुझे कुछ आश्चर्य हुआ कि ऐसा क्यों किया गया। परंतु जब आधी रात को नींद खुली, तो सब समझ में आ गया। शरीर के भारीपन के कारण नींद के समय शिवप्रसादजी की नाक इतने जोर से बोलती थी कि वह स्वयं कई बार अपनी आवाज से चौंककर जाग उठते थे।

इसके पश्चात शिवप्रसादजी की मेरे पिताजी में भक्ति और मेरे बड़े भाई हरीश्चंद्रजी तथा मुझ में प्रीति बढ़ती गई। धीरे-धीरे यह संबंध बहुत गहरा बिलकुल भाइयों का-सा हो गया। गुरुकुल कांगड़ी के प्रति शिवप्रसादजी की भावना बहुत बदल गई। प्रतीत होता है कि गुरुकुल का राष्ट्रीय रूप उनके मन पर प्रभाव उत्पन्न कर रहा था। एक वर्ष गुरुकुल के वार्षिक उत्सव पर आये। उस वर्ष लखनऊ के बाबू गंगाप्रसादजी भी, जो प्रसिद्ध 'हिंदुस्तानी' पत्र के संपादक थे, गुरुकुल आये थे। मैं स्वागत के लिए हरिद्वार गया था। उस समय की एक मनोरंजक घटना मुझे याद आती है।

गंगा के पार ले जाने के लिए गुरुकुल का बैल-तांगा मौजूद था। परंतु शरीर भारी होने के कारण शिवप्रसादजी ने उसमें बैठना स्वीकार नहीं किया। तब घोड़ों के तांगा के अड्डे पर जाकर मैंने एक तांगा ठहराया। तांगा ठहर तो गया, परंतु जब तांगेवाले ने सवारी को देखा, तो एकदम इन्कार कर दिया और तबतक जाने को राजी नहीं हुआ, जबतक उसे चौगुने दाम नहीं दिये गये। शरीर के इस भारीपन से शिवप्रसादजी बहुत परेशान रहते थे। उनके विलायत जाने का एक यह भी कारण था कि वह बिजली के इलाज से शरीर को हलका करना चाहते थे। पहली यात्रा में कुछ लाभ हुआ था। परंतु फिर घर की दिनचर्या में पड़कर शरीर अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार भारी होने लगा। संभवतः यह उनकी पारिवारिक विशेषता थी। यही बढ़कर रोग का कारण हुई। राष्ट्रीय आंदोलन में बार-बार जेल जाने से उनका स्वास्थ्य गिरता गया

और जीवन-शक्ति इतनी कम हो गई कि उस भारी शरीर को संभालने में असमर्थ हो गई।

बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने बनारस के एक सुप्रसिद्ध और समृद्ध परिवार में जन्म लिया था। राजा मोतीचंदजी उनके चचा थे। गुप्तजी जन्म से ही सांसारिक विभूति के स्वामी थे। यदि वह अपने परिवार की पुरानी लीकपर चलते, तो रईसी जीवन के सब आमोद-प्रमोद प्राप्त कर सकते थे, परंतु आरंभ से ही उनकी प्रवृत्ति श्रेय-मार्ग की ओर थी। उनकी भावनाएं अमीरों के निष्प्रयोजन जीवन से दूर हटाकर उन्हें देशसेवा की ओर ले गईं। विरासत में प्राप्त और स्वयं अर्जित धन का सदुपयोग करके गुप्तजी ने देशसेवा के जो स्थायी कार्य किये, वे काशी विद्यापीठ, दैनिक 'आज', ज्ञानमंडल और भारत-माता के मंदिर के रूप में बनारस में आज भी विद्यमान हैं।

ये उनके स्थायी कार्य थे, परंतु इनसे भी बढ़कर एक ऐसा कार्य था, जो यद्यपि सर्वसाधारण के लिए प्रत्यक्ष नहीं था,तो भी भारत के स्वाधीनता-संग्राम में सदा स्मरण रखने योग्य है। वह देश के उन चार-पांच महानुभावों में से थे, जिन्हें 'स्वाधीनता-संग्राम के भामाशाह' कहा जा सकता है। यदि पंडित मोतीलाल नेहरू को स्वराज्य पार्टी की ओरसे चुनाव लड़ने के लिए धन की आवश्यकता है, तो गुप्तजी की थैली हाज़िर थी। यदि हिंदू विश्वविद्यालय का कोई काम धन के बिना रुकता था, तो मालवीय-जी महाराज का गुप्तजी को केवल कहला भेजना पर्याप्त था। पं० मालवीय-जी के प्रति गुप्तजी की श्रद्धा अद्‌भुत थी। गुप्तजी मालवीयजी के राज-नैतिक विचारों से प्रायः असहमत रहते थे। जब मालवीयजी ने नैशने-लिस्ट पार्टी संगठित करके कांग्रेस के विरुद्ध चुनाव लड़ा था, तब गुप्तजी ने उनके विरोध में कांग्रेस को भरसक सहायता दी थी। फिर भी मालवीय-जी के प्रति उनकी भक्ति का यह हाल था कि राजनीति को छोड़कर अन्य सब मामलों में वह मालवीयजी के आज्ञावशंवद थे। जब मालवीयजी हिंदू विश्वविद्यालय के लिए धन संग्रह के निमित्त देशभर में घूम-रहे थे, तब कई महीनों तक गुप्तजी उनके साथ निजी मंत्री के तौर पर रहे। सब लोग जानते थे कि मालवीयजी अनथक और अनंत वक्ता थे। भाषण देने के समय उनका एक ही लक्ष्य रहता था कि श्रोताओं से अपनी बात

मनवा लें। उस समय, समय का बंधन या आगे का छपा हुआ कार्यक्रम उन्हें नहीं बांध सकता था। उस समय बाबू शिवप्रसादजी-जैसा निजी-मंत्री उनके लिए कितना उपयोगी सिद्ध होता था, यह दिखाने के लिए मैं एक आंखों-देखी घटना देता हूं।

शायद पटना की बात है। मालवीयजी एक सभा में विश्वविद्यालय के संबंध में भाषण दे रहे थे। भाषण के पश्चात उन्हें रेल से दूसरी जगह जाकर रात के समय फिर भाषण देना था। रेल का समय हो रहा था और मालवीयजी की वाग्धारा निरंतर बह रही थी। गुप्तजी ने नीचे से एक कागज पर लिखकर समय की सूचना उनके सामने रख दी। मालवीयजी समझ तो गये, परंतु कागज की ओर न देखकर बोलना जारी रखा। तब गुप्तजी को संकोच छोड़कर जोर से कहना पड़ा, "महाराज, रेल का समय हो गया, अब समाप्त कीजिये।" मालवीयजी ने हाथ के इशारे से गुप्तजी को चुप होने को कहा और व्याख्यान देते रहे। तब तो उस परम भक्त पुजारी का धैर्य छूट गया और श्रोताओं को चकित करते हुए गुप्तजी मालवीयजी की ओर पीठकर मेज के दूसरी ओर खड़े होकर अपने डिंडिम स्वर में कहने लगे, "मालवीयजी महाराज को दूसरी जगह जाकर व्याख्यान देना है। रेल का समय हो रहा है। आप उन्हें छुट्टी दीजिये।" पीछे से मालवीयजी, "शिवप्रसाद, क्या करते हो, हट जाओ आगे से!" कहते ही रहे, परंतु शिवप्रसाद तो सच्चा भक्त था! भक्तोंवाली ढिठाई से अपने स्थान पर जमा रहा। गुप्तजी का विस्तार पंडितजी से कम-से-कम तिगुना था। मालवीयजी सामने से बिल्कुल तिरोहित हो गये और अंत में भक्त से हार मानकर व्याख्यान समाप्त करने के लिए बाधित हो गये!

शिवप्रसादजी सभी राष्ट्रीय नेताओं के भक्त थे, क्योंकि वह राष्ट्र के भक्त थे। छोटे-छोटे मत-भेद उनकी मौलिक भक्ति को कुंठित नहीं कर सकते थे। यह तभी संभव हो सकता है, जब मनुष्य का हृदय विशाल और स्थिर हो। परमात्मा ने गुप्तजी को जैसा विशाल शरीर दिया था, वैसा ही विशाल हृदय भी। यही उनके निष्कलंक सार्वजनिक जीवन का रहस्य था।

: ९ :

सरदार वल्लभभाई पटेल

राजनीति में अभिरुचि रखनेवाले भारतवासी बहुत पहले से श्री-विट्ठलभाई पटेल के नाम से परिचित थे। वाइसराय की कौन्सिल के सदस्यों में विट्ठलभाई का बहुत ऊंचा स्थान था, जिनके आलोचना-रूपी हथौड़ों से नौकरशाही के दिल कांपते रहते थे। उनके छोटे भाई वल्लभभाई पटेल का नाम जनता ने तब सुना, जब महात्माजी ने गुजरात में अपने सत्य के क्रियात्मक परीक्षणों का क्रम जारी किया। बारदोली के सत्याग्रह ने तो सरदार का नाम इतना प्रसिद्ध कर दिया कि उनपर रघु के विषय में कहा गया कालिदास का यह श्लोक पूर्ण रूप से लागू हो गया :

इक्षुच्छायानिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः।

—ईख के खेत की छाया में बैठी हुई खेतों की रखवालियां बच्चों तक फैले हुए उसके यश का गान करती थीं। एक समय ऐसा आया, जब सरदार पटेल का नाम भारत के घर-घर में व्याप्त हो गया। परंतु आरंभ में गुजरात से बाहर के लोगों के लिए उनका नाम कुछ रहस्यमय-सा था। यह समझना कठिन प्रतीत होता था कि महात्मा गांधी अपने कार्यक्रम में एक ऐसे व्यक्ति को इतना ऊंचा स्थान क्यों देते हैं, जो न बड़ा वक्ता है और न जोरदार लेखक। मैं अपनी बात ही कहता हूं। सन १९१२ के पश्चात शायद ही कोई ऐसा राष्ट्रीय अवसर होगा, जिसमें मैंने उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त न किया हो। उस समय के प्रायः सभी देश-नेताओं और वक्ताओं को मैंने देखा और सुना था। महात्माजी के 'यंग इंडिया' में सरदार की प्रशंसा पढ़कर कई वर्षों तक मैं आश्चर्यान्वित होता रहा कि आखिर महात्माजी ने इस व्यक्ति में क्या देखा कि तिल का ताड़ बना

रहे हैं। एक दिन आया, जब मेरे-जैसे करोड़ों भारतवासियों ने यह अनुभव कर लिया कि जिसे वे तिल समझे हुए थे, वह केवल ताड़ ही नहीं था, अपितु एक पर्वत था।

पहली बार मैंने सरदार पटेल के तब दर्शन किये, जब वह सन १९२१ में अहमदाबाद में होनेवाली राष्ट्रीय महासभा की स्वागतकारिणी के स्वगताध्यक्ष थे। समाचार-पत्रों में उनका नाम पढ़ा था। दर्शनों की उत्कट अभिलाषा थी। अहमदाबाद पहुंचकर यह यत्न किया कि उनके भली प्रकार दर्शन हों और यदि संभव हो, तो बातचीत का भी अवसर मिल जाय। परंतु सरदार को फुरसत कहां? जब देखा तब व्यस्त, कहीं आज्ञा देते हुए, तो कहीं काम करनेवालों को फटकारते हुए। इधर-उधर पूछताछ करने पर लोग कहते सुनाई देते, "क्या करें, पटेलसाहब किसीकी सुनते ही नहीं। बहुत सख्त आदमी हैं।" जब हजारों की भीड़ में खड़े होकर दूर से देखा, तो सचमुच सरदार पटेल बहुत ही सख्त मालूम हुए। उनकी लंबी-लंबी मूंछें उनके होठों में अंतर्हित भावों को छिपाकर चेहरे को उसी प्रकार कठोर रूप दे रही थीं, जैसे मार्शल स्टालिन की मूंछें। सरदार कम बोलते थे और जब बोलते थे, तो थोड़ा और निश्चित। जो कह दिया, वह होना ही चाहिए। सरदार की आंख दूर से देखने पर उग्रतापूर्ण दिखाई देती थीं। अहमदाबाद में मुझपर यह असर हुआ कि सरदार वल्लभभाई पटेल पढ़े-लिखे होने पर भी एक प्रतिभाशून्य अक्खड़ व्यक्ति हैं, जिन्हें महात्माजी की कृपा से ऊंचा स्थान मिल गया है। परंतु गुजराती लोग सरदार की आज्ञाओं को सिर झुकाकर स्वीकार करते थे, यह देखकर आश्चर्य होता था। आश्चर्य ही रहस्य का बीज है। उस समय मन में यह प्रश्न पैदा हुआ कि इस खुरदरे व्यक्ति की लोकप्रियता का रहस्य क्या है?

मुझे सरदार के दूसरी बार दर्शन करने का अवसर गया की कांग्रेस के समय मिला। कांग्रेस में उस समय स्वराज्य पार्टी की स्थापना का संघर्ष चल रहा था। देशबंधु चितरंजन दास, पं० मोतीलाल नेहरू और हकीम अजमल खां जैसे महारथी स्वराज्य पार्टी के कौन्सिल-प्रवेश-संबंधी कार्यक्रम को कांग्रेस द्वारा स्वीकार कराना चाहते थे। महात्माजी उस

समय जेल में थे। उनके अनुयायियों का एक दल, जिसमें श्री राज-गोपालाचार्य, सरदार वल्लभभाई पटेल और डॉ० राजेंद्रप्रसाद मुख्य थे, उस नीति का विरोध कर रहा था। मैं अ० भा० कांग्रेस कमेटी के उन सदस्यों में से था, जो स्वराज्य पार्टी के समर्थक थे। जब कोई वक्ता कांग्रेस की वेदी पर से कौन्सिल-प्रवेश-संबंधी प्रस्ताव का समर्थन करता था, मुझे अच्छा मालूम होता था और जब कोई वक्ता विरोध करता था, तब बुरा लगता था। परिवर्तन का विरोध करनेवाले वक्ताओं में से श्री राज-गोपालाचार्य का स्थान सर्वप्रथम समझा जा रहा था। उन्होंने एक प्रतिभा-संपन्न वकील की भांति अत्यंत परिमार्जित सरल और जोरदार अंग्रेजी में परिवर्तनवाद का युक्तियों द्वारा विरोध किया। डॉ० राजेंद्रप्रसाद का भाषण यद्यपि भाषा की दृष्टि से उतने ऊंचे दर्जे का नहीं था, तो भी वह हृदय की ऐसी सचाई और सरल विश्वास से पूर्ण था कि उसका गहरा प्रभाव पड़ा। तीसरे वक्ता थे सरदार पटेल। वह उस समय कौन्सिल-प्रवेश के कट्टर विरोधी थे। उनका भाषण छोटा था, परंतु था बहुत युक्तिपूर्ण और ओजस्वी। उस भाषण के निम्नलिखित शब्द मेरे कानों में अबतक उसी तरह गूंज रहे हैं:

"हम कांग्रेस के भावी कार्यक्रम पर कुछ विचार करें, उससे पूर्व यह आवश्यक है कि इस कौन्सिल-प्रवेश की फिजूल बातचीत को समाप्त कर दिया जाय।" यह वाक्य कहने के साथ उन्होंने अपने हाथ का एक ऐसा इशारा किया, जिसका अभिप्राय यह था कि यदि सड़क पर गाड़ी को आगे ले जाना है, तो पहले सामने पड़े हुए कूड़े-करकट के ढेर को उठाकर किसी गढ़े में डाल देना चाहिए, तभी रास्ता साफ हो सकेगा।

ये शब्द तो जोरदार थे ही, हाथ का इशारा उनसे भी कहीं अधिक जोरदार था। उसमें वक्ता की दृढ़ इच्छा-शक्ति और इच्छा को पूरा करने की अदम्य भावना अंतर्हित थी। उस दृढ़ता के प्रभाव से मेरे चित्त में सरदार के प्रति एक विशेष भक्ति का भाव उत्पन्न हो गया और रहस्य कुछ-कुछ खुलने लगा। अनुभव होने लगा कि संभवतः यही संकल्प है, जिसने गुजरात को सरदार का अनुयायी बना दिया है। कार्यक्षेत्र में युक्ति की अपेक्षा संकल्प कहीं अधिक बल रखता है। वह संकल्प का

बल ही था, जिसने विलायत से बैरिस्टरी पास करके आये हुए एक रिंद हिंदुस्तानी को देश की राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए लड़नेवाली सेना का सरदार बना दिया।

इस प्रकार दूसरी बार के दर्शन में मैंने सरदार वल्लभभाई पटेल के ओजस्वी रूप को देखा।

उस महापुरुष को पूर्ण रूप में मैंने तीसरी बार के दर्शन के समय दिल्ली में देखा। सन १९३५ में, धारा सभाओं के चुनाव के सिलसिले में, सरदार पटेल दिल्ली आये। दिल्ली की कांग्रेस कमेटी ने शहर से दस मील की दूरी पर एक गांव में राजनैतिक कान्फ्रेंस रखी थी। सरदार पटेल से प्रार्थना की गई कि वह उसके सभापति बनना स्वीकार करें। उन्होंने स्वीकृति दे दी। उन्हें कान्फ्रेंस में पहुंचाने का काम मेरे सुपुर्द किया गया, क्योंकि मैं उन दिनों प्रांतीय कांग्रेस कमेटी का प्रधान था। उस समय लगभग पांच-छः घंटों तक मोटर में सरदार पटेल के साथ बैठने का अवसर मिला। बहुत-से विषयों पर बातचीत हुई। उनमें से मेरे मन पर सबसे अधिक जिस प्रसंग का प्रभाव पड़ा, वह यह था :

हमारी मोटर कई गांवों में से होकर निकली। गांव के निवासियों की गरीबी और फटी हालत देखते हुए हम जंगल के रास्ते में पहुंचे। हरा-भरा जंगल था, स्थान-स्थान पर मोर निश्चिंतता से विहार करते दिखाई देते थे। दिल्ली के आस-पास जाटों के इलाके में मोर का शिकार नहीं हो सकता। हरियाने के बहुत-से प्रदेशों में मोर बेफिक्री से नाच सकते हैं। मोरवाले जंगल को देखकर सरदार को काठियावाड़ का मौरवी प्रदेश याद आ गया। उन्होंने कहा, "मौरवी में भी इसी प्रकार मोर निर्भय होकर विचरते हैं।" फिर थोड़ी देर रुककर बोले, "स्वामी दयानंद ने मौरवी में जन्म लिया था, जिस प्रदेश में भारत की जागृति के पिता ने जन्म लिया, उसके सुंदर स्थानों में इससे भी अधिक दरिद्रता पाई जाती है...ऐसा सुंदर देश और ऐसी भीषण दरिद्रता, यह हमारी दासता का ही परिणाम है।" इन शब्दों को कहते समय सरदार का गला भर आया था और आंखों में पानी झलक रहा था।

उस समय सरदार पटेल किसी व्याख्यान-वेदी पर खड़े होकर व्याख्यान नहीं दे रहे थे और न किसी विदेशी पत्र-प्रतिनिधि के प्रश्नों का समाधान कर रहे थे। मैंने सरदार के उन गीले नेत्रों में से झलकते हुए एक भावुक और अत्यंत कोमल हृदय को प्रत्यक्ष रूप में देख लिया। १३ वर्ष पूर्व जो वस्तु रहस्यमय मालूम होती थी, वह उस दिन सूर्य की तरह स्पष्ट दिखाई देने लगी। सरदार की छाती में एक अत्यंत अनुभवशील, भावुक हृदय का निवास था। यह ठीक है कि उनके अत्यंत गंभीर और प्रत्यक्ष में कुछ कठोर मुंह में एक स्पष्ट बोलनेवाली जिह्वा विद्यमान थी, जो चोर को चोर कहने में संकोच नहीं करती थी और उनकी अंतरात्मा में वह साहस, वह दृढ़ संकल्प और वह एकाग्र भाव था, जो जब कार्यसिद्धि के लिए तत्पर हो जाता था, तब गौण वस्तुओं की परवाह नहीं करता था, पर्वतों को लांघता और समुद्र की छाती को चीरता हुआ अपने लक्ष्य तक पहुंच जाता था, परंतु इस असाधारण कार्यशक्ति को प्रेरणा देनेवाला जो हृदय था, वह अत्यंत कोमल और भावुक था। इस प्रत्यक्ष में दीखनेवाले परस्पर विरोध का रहस्य यही था कि बलवान विरोधी के लिए उनका हृदय वज्र से भी कठोर था और निर्बल तथा निरपराधी के लिए वह कुसुम से भी कोमल था।

सरदार पटेल को देशवासियों ने 'लौह-पुरुष' की उपाधि से विभूषित किया था। यह उपाधि जर्मन-साम्राज्य के विश्वकर्मा बिस्मार्क के अनुकरण में दी गई थी। उसे यूरोप के लोगों ने 'आयरन काउंट' कहकर सम्मानित किया था। जब सरदार पटेल को 'लौह-पुरुष' कहा जाने लगा, तब यह अनुभव नहीं किया जा सकता था कि सरदार द्वारा भारत में जर्मनी के इतिहास का वह युग इतने समान रूप में दोहराया जायगा। जर्मनी के लौह-पुरुष ने वहां की अनेक छोटी-छोटी रियासतों को एकत्र करके जर्मन-साम्राज्य का निर्माण किया था। भारत के लौह-पुरुष ने सैकड़ों रियासतों की पृथक सत्ता को समाप्त करके विशाल भारतीय गणतंत्र का आयोजन किया। दोनों के उपायों में अवश्य थोड़ा-बहुत भेद था, परंतु कार्य-शैली का मौलिक सिद्धांत

एक ही था। वह सिद्धांत यह था कि जब किसी कार्य को सिद्ध करने का दृढ़ निश्चय कर लिया जाय, तब विरोधी कारणों को मार्ग से हटाने के लिए संपूर्ण शक्ति लगा देनी चाहिए। विरोधी कोई हो—अपना हो या पराया, मित्र हो या संबंधी, जो विरोधी है, उसे विरोधी ही मानना चाहिए और उसकी शक्ति को तोड़ने में कोई कसर न रखनी चाहिए। यह थी सरदार की विशेषता, जो उन्हें समकालीन अन्य नेताओं से ऊंचा उठाती थी। उनके जीवन के बीसों ऐसे प्रसंग भारतीय स्वाधीनता के अंतिम युद्ध के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखे हुए हैं। यहां उनके अंकित करने की आवश्यकता नहीं। मैं केवल उन दो दृष्टांतों का उल्लेख करूंगा, जिन्हें देखने का मुझे स्वयं अवसर मिला।

सन १९३६ के चुनाव के पश्चात यह समस्या खड़ी हुई थी कि बंबई की कांग्रेसी सरकार में प्रधान मंत्री किसको बनाया जाय। बंबई के पुराने कांग्रेसी नेता मि० नरीमान अपने को उस पद का अधिकारी मानते थे। सरदार पटेल पार्लमेंटरी बोर्ड के अध्यक्ष थे। उनकी सम्मति थी कि श्री खेर को मुख्य मंत्री नियुक्त किया जाय। मि० नरीमान भी बहुत अड़ियल व्यक्ति थे। उन्होंने इसे अपना अपमान समझा और अपने पक्ष में आंदोलन आरंभ कर दिया। सरदार ने इस आंदोलन को कांग्रेस के प्रति द्रोह मानकर उसका दमन करने में पूरी शक्ति लगा दी। जिन दिनों यह कांड चल रहा था, उन दिनों मैं किसी कार्य से बंबई गया हुआ था। सरदार के दर्शनों को पहुंचा, तो वहां नरीमान-कांड की चर्चा हो रही थी। सरदार कह रहे थे, "यदि इस प्रकार के नियंत्रण-भंग को क्षमा कर दिया जायगा, तो हम शासन नहीं चला सकेंगे। चाहे हमें नरीमान-जैसा साथी खोना पड़े, मैं उसे शिक्षा दे देना चाहता हूं।"

मि० नरीमान को यह शिक्षा इस रूप में मिली कि वह न केवल इतना ही कि मुख्य मंत्री न बन सके, कांग्रेस के हर एक पद से अलग होकर अंत में कांग्रेस के चार आना सदस्य भी न रहे।

इसी प्रकार का दूसरा दृष्टांत मध्य-प्रांत के डॉ० खरे का था।

डॉ० खरे मध्य-प्रांत की कांग्रेस सरकार के पहले मुख्य मंत्री थे । न जाने क्यों, प्रारंभ से ही उन्हें सरदार पटेल का विरोध करने का चस्का था । मुझे याद आता है कि पार्लमिंटरी बोर्ड की प्रत्येक बैठक में सरदार पटेल से उनकी झड़प होती थी । सरदार अध्यक्ष थे; परंतु डॉ० खरे को भी प्रांत के मुख्य मंत्री और शायद महाराष्ट्रीय होने का अभिमान था । वह बात-बात में अड़ जाते थे । मौलाना आज़ाद शायद उस समय भी बोर्ड के उपाध्यक्ष थे । उनकी शिष्टता और नीति से भरपूर बातचीत की शैली तो प्रसिद्ध ही है । वह अपनी सुसंस्कृत उर्दू में प्रायः समझौते का यत्न किया करते थे । परंतु उनका दोनों महारथियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था । अंत में एक बार तंग आकर सरदार ने डॉ० खरे से जो कुछ कहा, उसका अभिप्राय यह था कि यदि आप हमारी नीति से इतने असंतुष्ट हैं, तो आपको पार्टी से त्यागपत्र दे देना चाहिए । शब्द तो याद नहीं, परंतु डॉ० खरे ने जो उत्तर दिया, उसका सार यह था कि देखा जायगा कौन त्यागपत्र देता है । डॉ० खरे का यह उत्तर पर्याप्त था । थोड़े ही महीनों में डॉ० खरे न केवल मुख्य मंत्री-पद से पृथक हो गये, कांग्रेस के चार आना सदस्य भी न रहे ।

सरदार का व्यक्तिगत जीवन बहुत ही सादा था । उनकी नैसर्गिक सादगी का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि नई दिल्ली में गृहमंत्री के पद पर प्रतिष्ठित होकर और वस्तुतः देश के एकछत्र शासक बनकर भी सरदार ने न अपनी वेशभूषा में कुछ परिवर्तन किया और न रहन-सहन में । अंत तक वही धोती-कुरता और वास्कट का वेश रखा और उसी औरंगजेब रोड की एक नंबर कोठी में निवास करते रहे । एक बार मैं उस कोठी में सरदार से मिलने गया । बाहर के कमरे में उनकी पितृभक्ता, त्यागमयी पुत्री मणिबहन के दर्शन हुए । सरदार की मुख्य पी० ए० वही थीं । सरदार से मिलनेवालों को उनके दर्शन अवश्य हो जाते थे । उनमें पी० ए० और पितृभक्ता पुत्री के गुणों का मिश्रण होने से उस समय के राजनैतिक व्यक्तियों में उनका स्थान असाधारण बन गया था । जब सरदार किसी सभा के मंच पर बैठने लगते थे, तब मणिबहन उनकी चप्पलें उठाकर थैले में

रख लेती थीं। जव वह विश्राम अथवा कोई अन्य आवश्यक कार्य कर रहे होते थे, तव वह घंटों तक उनके द्वार पर बैठकर या खड़ी होकर आरक्षक का काम करती थीं। उस समय उनकी जो गंभीर मुद्रा होती थी, वह गंभीरता में सरदार के चेहरे को भी पीछे छोड़ जाती थी। रहन-सहन और पहरावा वाप-वेटी का अत्यंत सादा और प्रदर्शन-रहित था। जव मैं सरदार से मिलने के लिए अंदर जाने लगा, तव श्रीमती मणिवहन ने मुझे चेतावनी दी, "आपके लिए केवल दस मिनट का समय है, इससे अधिक नहीं। जव मैं इशारा दूं, तव उठ जाना।"

मैंने आदेश स्वीकार कर लिया। मणिवहन मुझे अंदर तक ले गईं और मिलने के कमरे में एक ओर कागज-पेंसिल लेकर बैठ गईं। कमरा न वहुत वड़ा था, न वहुत छोटा। आजकल के डिप्टी मिनि-स्टरों के कमरों से कुछ छोटा ही होगा। साफ और सुथरा, परंतु ठाठ-वाट की कोई वस्तु उसमें न थी। सरदार जव अपने विश्वस्त लोगों से वातचीत करते थे, तव उसमें तकल्लुफ नाम की चीज का अत्यंत अभाव रहता था। संकोच छोड़कर सव-कुछ कहते और सुनते थे। वात करते-करते दस मिनट कव वीत गये, पता भी न चला। देखा कि मणि-वहन, जो तवतक हमारी वातचीत के नोट ले रही थीं, हाथ रोककर पेंसिल से मुझे वातचीत समाप्त करने के इशारे दे रही हैं। मैं उनके इशारे को देखकर कुछ मुस्कराया और खड़े होकर जाने की आज्ञा मांगने लगा। तव सरदार के चेहरे पर भी हल्की-सी मुस्कराहट आ गई। मेरे नमस्कार का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा, "इसको मेरे समय की रक्षा करनी पड़ती है।"

यदि हम अपने इतिहास के किसी महान व्यक्ति से सरदार की उपमा देना चाहें, तो वह मौर्य-साम्राज्य के संस्थापक आचार्य चाणक्य ही हो सकते हैं। महाकवि विशाखदत्त ने आचार्य चाणक्य की विभूति का वर्णन निम्नलिखित श्लोक में किया है :

उपलशकलमेतद्भेदकं गोमयानां
वटुभिरुपहृतानां वर्हिषां स्तूपमेतत्।

शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिरामि
विगलितपटलांतं दृश्यते जीर्णकुड्यम् ॥

—इधर उपलों को तोड़ने के लिए पत्थर का टुकड़ा पड़ा है, उधर छात्रों द्वारा लाई हुई कुशाओं का ढेर पड़ा है और यह पुरानी दीवार सूखती हुई यज्ञ की समिधाओं के बोझ से झुक गई है। उसे देखकर राजा चंद्रगुप्त कहते हैं :

अहो राजाधिराजमंत्रिणो विभूतिः

—ओह, यह है चक्रवर्ती राजा के मंत्री की विभूति। यद्यपि औरंगजेब रोड-वाली कोठी नई दिल्ली की अन्य कोठियों की तरह विशाल बनी हुई थी, तो भी अन्य मंत्रियों और उप-मंत्रियों की कोठियों से छोटी थी। रईसोंवाली शान का लगभग अभाव था। सरदार के कुरते के किसी-न-किसी भाग में थेगली अवश्य लगी होती थी। पिता के कपड़ों की मरम्मत प्रायः मणिबहन ही कर दिया करती थीं और स्वयं प्रायः सरदार के पुराने कपड़ों में से अपने कपड़े सी लिया करती थीं। यह थी महान गणतंत्र राज्य के उस गृहमंत्री की विभूति, जिसने न केवल सैकड़ों नरेशों को शांतिपूर्वक अधिकार-च्युत करके राज्य का सामान्य नागरिक बना दिया था, बल्कि विद्रोह के लिए उद्यत शक्ति-संपन्न हैदराबाद रियासत का सात दिन में सिर कुचल दिया था। सरदार ने देश के लिए जो अद्भुत कार्य किये, उन्हें सारा संसार जानता है।

मैंने जो कुछ देखा, उसने मुझे सरदार का परम-भक्त बना दिया। जिस घटना ने मुझे उनके राजनैतिक विचारों की गहराई का पूरा अनुभव कराया, उसका विवरण देना अप्रासंगिक न होगा।

जब पूर्वी पाकिस्तान से बहुत बड़ी संख्या में हिंदुओं का निर्वासन आरंभ हुआ, तब अपनी सरकार की शिथिल नीति से खिन्न होकर डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने मंत्रिमंडल से त्यागपत्र दे दिया था। उनका त्यागपत्र विधिवत प्रकाशित होने से पूर्व संसद की कांग्रेस पार्टी में उपस्थित हुआ। अपने त्यागपत्र के समर्थन में डॉ० मुखर्जी ने खूब जोरदार वक्तृता दी। डॉ० मुखर्जी अपने समय के सर्वोत्कृष्ट

भारतीय अंग्रेजी-वक्ता थे । उनकी भाषा का प्रवाह और विचारों का ओज श्रोताओं को अपने साथ वहा ले जाता था । जिस समय वह लोक-सभा में वोलने के लिए खड़े होते थे, प्रायः राज्य सभा के तीन-चौथाई सदस्य लोक-सभा की गैलरी में जाकर श्रोता वन जाते थे डॉ० मुखर्जी ने अपने भाषण में उन सारे गुणों का समावेश कर दिया, जिनके कारण वह सर्वोत्कृष्ट वक्ता समझे जाते थे । जिस समय उन्होंने कहा कि पाकिस्तान के दिमाग को सीधा करने का एक ही उपाय है कि हम अपनी सेनाओं को पूर्वी पाकिस्तान पर चढ़ाई करने का हुक्म दे दें, उस समय कांग्रेस पार्टी के अधिकतर सदस्यों की धमनियों में रक्त वेग से चलने लगा था । वातावरण खूव गरम हो गया और यह संदेह होने लगा कि शायद पार्टी का वहुमत डॉ० मुखर्जी का समर्थन कर देगा । सरदार पटेल ने वड़े शांत और गंभीर स्वर से संक्षेप में डॉ० मुखर्जी की युक्तियों का उत्तर दिया । सदस्यों की रक्त की गति तो धीमी पड़ गई, परंतु हृदय पूरी तरह शांत न हुआ । सरदार के प्रति श्रद्धा और पार्टी के नियंत्रण के कारण त्यागपत्र स्वीकार हो गया, तो भी हम लोगों के मन में आशंका वनी रही । सभा समाप्त होने के पश्चात हम चार-पांच सदस्य मिलकर सरदार के पीछे-पीछे गये और अकेले में जाकर निवेदन किया, "आपके आदेशानुसार हम लोगों ने सम्मति तो त्यागपत्र के स्वीकृत होने के पक्ष में ही दी है, परंतु हमारे हृदय डॉ० मुखर्जी की भावना के साथ सहमत हैं । इस समय उचित उपाय तो यही प्रतीत होता है कि पाकिस्तान पर हमला कर दिया जाय ।" इसपर सरदार कुछ मुस्कराये और हमसे पूछा, "तो आप लोग समझते हैं कि हमें आज ही युद्ध छेड़ देना चाहिए ? क्या हम उसके लिए तैयार हैं ?"

हम लोग सोचने लगे । कुछ देर के पश्चात उत्तर दिया, "आज तो हम तैयार नहीं हैं ।"

तव सरदार ने कहा, "इससे वढ़कर क्या मूर्खता हो सकती है कि हम युद्ध के लिए तो इस समय तैयार हैं नहीं और युद्ध की घोषणा कर दें ! अभिप्राय यह होगा कि हम लड़ना तो नहीं चाहते, परंतु

लड़ाई को निमंत्रण देते हैं।" इसपर अप्रतिभ-से होकर हममें से किसीने कहा, "यदि आज ही युद्ध न भी करना हो, तो भी धमकी देने में क्या हानि है?"

सरदार ने उत्तर दिया, "यह तो उससे भी बड़ी मूर्खता होगी। हम शत्रु को लड़ाई से बहुत पूर्व चेतावनी दे देंगे, तब तो पराजय निश्चित ही है।"

जो बात दो घंटों की उस सभा में समझ में नहीं आई थी, वह इन दो प्रश्नोत्तरों से समझ में आ गई। लड़ना हो या न लड़ना हो, दोनों दशाओं में युद्ध से पूर्व उसकी घोषणा करना पहले दर्जे की मूर्खता है। जो वस्तुतः युद्ध करना जानते हैं, वे रात-दिन म्यान में तलवार को बजाया नहीं करते। सरदार आवश्यकतानुसार शांति और युद्ध दोनों के समर्थक और दोनों में कुशल थे। उनमें और अन्यों में भेद इतना ही था कि वह दोनों के भेद को पहचानते थे। यही उनकी सफलता का रहस्य था।

: १० :

मौलाना अबुलकलाम आज़ाद

भारत की राजनीति में मौलाना आजाद का एक विशेष स्थान था। यद्यपि वह कांग्रेस-दल के एक प्रमुख नेता थे, तो भी उन्हें केवल दलीय नेता नहीं कहा जा सकता। वह मध्य-पूर्वी संस्कृति और वाङ्-मय के बहुत ऊंचे दर्जे के प्रतिनिधि थे, उदार विचारवाले मुसलमानों के मार्ग-दर्शक थे और भारत के उस शिष्टाचार के शरीरधारी रूप थे, जिसका निर्माण मुगल-साम्राज्य के अंतिम दिनों में लखनऊ और दिल्ली में हुआ था। इस सब विशेषताओं के अतिरिक्त वह भारत की एकता और अखंडता के अत्यंत योग्य वकील थे।

परिमार्जित शिष्टाचार और राजनीति दोनों का अटूट संबंध नहीं है। परिमार्जित शिष्टाचार का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। वह समाज के प्रत्येक विभाग में पाया जाता है। ऐसे राजनीतिज्ञों का अभाव नहीं है, जिनके लिए शिष्टाचार कोई आवश्यक वस्तु नहीं है। सभी देशों में ऐसे खुरदरे स्वभाव के राजनीतिज्ञ पाये जाते हैं। वे अपने क्षेत्र में सफल भी हो जाते हैं। परंतु यह मानना पड़ेगा कि जिस व्यक्ति में राजनीति और शिष्टाचार का मिश्रण हो, उसकी सफलता की संभावना बढ़ जाती है। मौलाना आजाद में इन दोनों गुणों का बहुत सुंदर मेल था। आजकल भारतीय राजनीति में सफलता प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी में बोलने का तथा लिखने का अभ्यास अत्यंत आवश्यक समझा जाता है। उसकी न्यूनता होते हुए भी मौलाना को जो अद्भुत सफलता प्राप्त हुई, उसका मुख्य कारण यही था कि उनमें संस्कृति और राजनीति का बढ़िया समन्वय था। परिमार्जित शिष्टाचार संस्कृति का आवश्यक अंग है। वह मौलाना आजाद में प्रभूत मात्रा में विद्यमान था।

जव आप अधिकारयुक्त व्यक्तियों से मिलने जायं, तो आपको वहां तीन प्रकार का स्वागत मिलेगा । जिन व्यक्तियों में शिष्टाचार के संस्कार इतने गहरे हैं कि अविकार की कुरसी उन्हें धो नहीं सकी, उनका स्वागत नम्रता और शिष्टाचार से पूर्ण होगा। ऐसे स्वागत के दो नमूने राष्ट्रपति डॉ० राजेंद्रप्रसाद तथा मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के रूप में पेश किये जा सकते हैं। आप राष्ट्रपतिजी से मिलने जाइये, तो यदि वह विशेप कार्य में ही व्यस्त न हों, तो आप उन्हें खड़े होकर और हाथ जोडकर नमस्कार करते पायेंगे। यह नम्रता उनके स्वभाव का अंग है, जिसे राष्ट्र में सवसे ऊंचा पद मिटा नहीं सका। दूसरा नमूना मौलानासाहव का था। जव कभी शिक्षा मंत्रालय में मैं उनसे मिलने गया, तो वह सदा "आइये प्रोफेसरसाहव! वहुत दिनों में आये!"—कहकर हाथ वढ़ा देते थे और वड़े स्नेह से हाथ मिलाकर पास की कुरसी पर वैठा लेते थे। स्वास्थ्य का समाचार पूछने पर कहते थे, "ठीक है, भाई, जिंदा हूं!" विदा देते हुए भी शिष्टाचारपूर्वक हाथ मिलाना नहीं भूलते थे।

मौलाना की विशेपताओं को स्पष्ट करने के लिए गुरुकुल के संवंध में एक मुलाकात उल्लेख योग्य है।

मैंने मौलाना के सेक्रेटरी से टेलीफोन द्वारा मिलने का समय ले लिया था। नियत समय पर जव मैं उनके पार्लमिंट-वाले कमरे के दरवाजे पर पहुंचा, तो मौके की वात, वहां कोई चपरासी नहीं था। मैंने जाव्ते की ओर अविक ध्यान न देकर दरवाजे का हैंडल घुमाया और कमरे के अंदर पहुंच गया। मौलाना अकेले वैठे कोई फाइल देख रहे थे। मुझे अचानक आया हुआ देखकर क्षण-भर तो आश्चर्य से देखते रहे, परंतु तुरंत ही उनके चेहरे पर वही मुस्कराहट आ गई, जो स्वागत के समय आया करती थी। "आइये प्रोफेसरसाहव, वहुत दिनों में आये!"—कहते हुए हाथ वढ़ा दिया। इस तरह जाव्ते में भूल हो जाने के कारण उत्पन्न हुई मेरी घवराहट को दूर करके उन्होंने सामने की कुरसी पर वैठने का इशारा किया। वैठते हुए मैंने कहा, "मौलाना-साहव, माफ कीजियेगा, दरवाजे पर कोई चपरासी नहीं था, इसीलिए

मैं खुद ही दरवाजा खोलकर चला आया।" इसपर अत्यंत मिठास के साथ मौलाना ने कहा, "आपको किसीसे पूछने की क्या जरूरत थी ? आप जब चाहें, तब आ सकते हैं।"

शिष्टाचार का प्रसंग समाप्त हुआ, तो मैंने निवेदन किया कि गुरुकुल से आपकी सेवा में रजिस्ट्री द्वारा दो आवेदन-पत्र भेजे गये थे। आपके निजी सचिव की रसीद भी प्राप्त हो गई थी, परंतु उनका कोई उत्तर नहीं आया। लिहाजा मुझे खुद आना पड़ा। इसपर मौलाना-साहब ने थोड़ी देर सोचकर कहा, "मेरी नजरों से तो आपके कोई पत्र नहीं गुजरे। मैं मालूम करता हूं कि क्या बात है।" चपरासी को भेजकर निजी सचिव को बुलाया गया। उनसे मौलाना ने पूछा, तो सचिव महोदय ने जवाब दिया कि गुरुकुल के पत्र आये तो थे, परंतु वे जाब्ते के अनुसार दफ्तर में भेज दिये गये। इसपर मेरी ओर देख-कर मौलानासाहब बोले, "यह हाल है हमारे दफ्तर का! गुरुकुल का खत आये और मुझे मालूम तक नहीं! खैर, अब आप एक काम कीजिये। उन खतों को फिर से मेरे पास भेज दीजिये। मुझे जरूर मिल जायंगे, तब आपको शिकायत न होगी।" इस एक बातचीत के विव-रण से मौलाना का शिष्टाचार, अपने दफ्तर के बारे में उनकी राय और कार्य करने की प्रणाली की झलक भली प्रकार मिल जायगी। आवेदन-पत्र फिर से भेजे गये। रसीद आ गई, उनका परिणाम भी अच्छा हुआ। मौलाना ने उनपर नोट लिखकर दफ्तर को आदेश दिया कि आवश्यक कार्रवाई तुरंत की जाय।

मौलाना आज़ाद देशवासियों के लिए और विदेशियों के लिए भी खरी देशभक्ति और दृढ़ हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रतीक थे। स्वा-धीनता-संग्राम के दिनों में राष्ट्रीय क्षेत्र में काम करनेवाले भारत-वासियों के सामने अनेक ऐसे विकट अवसर आये, जिनसे उनकी देश-भक्ति और असांप्रदायिकता पर प्रबल आघात पहुंचे। कई बड़े-बड़े स्तंभ टूट गये और बहुत-से झुककर विरोधी शक्तियों में जा मिले, परंतु अनेक प्रलोभनों के आने पर भी मौलाना आज़ाद न टूटे न झुके, अपितु अपने मार्ग पर दृढ़ता से चलते गये। एक विशेष बात

यह थी कि सांप्रदायिकता का विरोध करते हुए भी वह मुसलमानों में कभी अप्रिय नहीं हुए। उनका उलेमाओं और मौलानाओं में सदा ऊंचा स्थान बना रहा। इसका विशेष कारण यह था कि वह अपनी धर्मभक्ति और देशभक्ति को पूर्ण रूप से निभाते थे। इस कठिन कार्य के लिए जितनी दृढ़ता और लचकीलेपन की आवश्यकता थी, दोनों का मौलानासाहब में बढ़िया समन्वय था। मूल सिद्धांतों के संबंध में दृढ़ता थी और उनके अवांतर प्रयोगों के संबंध में लचकीलापन था। इस विषय में समन्वय की सफलता बहुत ऊंची प्रतिभा और बुद्धिमत्ता के बिना संभव नहीं।

यह कहना सच है कि मौलाना आज़ाद केवल व्यक्ति नहीं थे, वह एक संस्था थे। भारत की गत सौ वर्षों की राजनीति में ऐसे दो-चार ही महापुरुष हो गये हैं, जिन्हें 'संस्था' की उपाधि दी जा सके। उनमें से एक पंडित मदनमोहन मालवीय थे, दूसरे मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद।

मुझे मौलाना की नीति-कुशलता और समन्वय-शक्ति का एक उत्तम दृष्टांत याद है। सन १९३२-३३ की बात है। कांग्रेस के सार्वदेशिक पार्लमिंटरी बोर्ड की बैठक हो रही थी। सरदार पटेल अध्यक्ष थे। नागपुर के डॉक्टर खरे के साथ किसी बात पर सरदार का मतभेद हो गया। डॉ० खरे बहुत अड़नेवाले व्यक्ति थे। एक तो महाराष्ट्र के निवासी, फिर स्वभाव से हठीले। वह प्रायः सरदार से उलझ जाते थे। सरदार का स्वभाव तो शाही था ही, उस दिन बात बहुत बढ़ गई। डॉ० खरे उन दिनों मध्य-प्रांत के कर्ता-धर्ता माने जाते थे। दो प्रमुख व्यक्तियों के विवाद में हम युवक सदस्य कुछ स्तब्ध-से हो गये। सभा का तापमान इतना बढ़ गया कि तबीयत घबराने लगी। तब मौलानासाहब ने ठंडा पानी डालने का उपक्रम किया। उन्होंने डॉ० खरे को संबोधन करके कहा, "डॉक्टरसाहब, सरदारसाहब का वह मतलब नहीं है, जो आप समझे हैं। उनका मतलब तो इतना है कि..." फिर सरदार पटेल की ओर देखकर कहने लगे, "सरदार-साहब, डॉक्टरसाहब तो इतना कहना चाहते हैं कि..." इस तरह

दोनों ओर बांध लगाकर उन्होंने लगभग बीस-पच्चीस मिनट में सभा के तापमान को इतना कम कर दिया कि काम शांति से चलने लगा।

महात्मा गांधी को सभी प्रकार की राष्ट्रीय समस्याओं में मौलाना आज़ाद की सलाह पर गहरा विश्वास था। वह विश्वास पंडित जवाहरलाल नेहरू ने विरासत में प्राप्त किया था। नेहरूजी जब से प्रधानमंत्री बने, मौलाना उनके मुख्य सलाहकार और दाहिने हाथ रहे।

मौलाना आज़ाद की मृत्यु से केवल पंडित जवाहरलालजी का मुख्य सहायक और परामर्शदाता ही नहीं उठ गया, भारत का एक कट्टर-देशभक्त और आदर्श नागरिक भी हमसे विदा हो गया। मौलाना उस अत्यंत सुंदर शिष्टाचार-भरी नागरिकता के एक ज्वलंत नमूने थे, वर्तमान संघर्ष से भरी हुई सभ्यता में जिसका प्रायः लोप होता जा रहा है। मौलाना के वियोग से भारत के मानवीय धन की मात्रा में बहुत न्यूनता आ गई।

: ११ :

नेताजी सुभाषचंद्र बोस

श्री सुभाषचंद्र बोस के संबंध में मेरे व्यक्तिगत संस्मरण तब से आरंभ होते हैं, जब वह देशबंधु चितरंजन दास के प्रमुख सिपाही के तौर पर कांग्रेस के मंच पर बैठे दिखाई दिया करते थे। पत्रकारों के आसन से अपने प्रधान सेनापति के बायें हाथ बैठा हुआ एक सुंदर-तेजस्वी, गोरा-मुस्कराता हुआ नवयुवक दृष्टिगोचर होता था, जिसके प्रतिभा-संपन्न चेहरे को देखकर दर्शक आपस में पूछते थे कि यह नवयुवक कौन है? उत्तर मिलता था कि देशबंधु दास का मुख्य शिष्य सुभाषबाबू है, जिसने आई० सी० एस० की नौकरी को त्याग-कर देश-सेवा का व्रत धारण किया है। उन दिनों सुभाषबाबू के चेहरे पर जो स्थायी भाव प्रकट होता था, वह निरंतर संतोष का था। होठों पर हल्की-सी मुस्कराहट दिखाई दिया करती थी। मैंने इन्हें सिपाही के रूप में देखा, फिर कलकत्ते की कांग्रेस में राष्ट्रीय स्वयंसेवकों के प्रधान सेनापति के रूप में देखा और अंत में भारतीय युवकों के हृदय-सम्राट नेता के रूप में भी देखा। तीनों दशाओं में उनके चेहरे पर हल्की-सी मुस्कराहट दिखाई देती रही। उसे देखकर मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के संबंध में कवि की निम्नलिखित उक्ति चरि-तार्थ होती थी :

> राज्यमारोढुकामस्य वनायाभ्युद्यतस्य च
> न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोप्याकारविभ्रमः

प्रत्येक दशा में मुख की प्रसन्न मुद्रा को देखकर ऐसा अनुभव होता था कि वह अपने कर्तव्य का पालन करने से सर्वथा संतुष्ट हैं। मुख का वह प्रसाद हृदय की संतुष्टि का प्रमाण था। ऐसा प्रतीत

होता था कि सुभाषबाबू के लिए उनका कर्तव्य ही मुख्य था, फल की प्राप्ति गौण थी।

अगली स्मृति कलकत्ते के राष्ट्रीय कन्वेन्शन की है। वह कन्वेन्शन सन १९२८ में पं० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में हुआ था। उस समय तक दासबाबू का यह नया रंगरूट राष्ट्रीय स्वयंसेवक-सेना का प्रधान सेनापति बन चुका था। कांग्रेस और कन्वेन्शन के लिए जो स्वयंसेवक दल इकट्ठे हुए थे, उनकी कमान सुभाषबाबू को सौंपी गई थी। जिस व्यक्ति ने उस समय के राष्ट्रपति पं० मोतीलाल नेहरू का जुलूस देखा है, उसके स्मृति-पट पर से वह कभी नहीं धुल सकता। जिस गाड़ी में राष्ट्रपति की सवारी निकल रही थी, उसमें शायद दो दर्जन घोड़े जुते हुए थे। गाड़ी में पं० मोतीलाल नेहरू अपने पूरे शाही ठाठ-बाट से विराजमान थे। ये सभी चीजें अपूर्व और दर्शनीय थीं। परंतु इन सबसे अधिक अपूर्व और दर्शनीय जो चीज थी, वह मानो भविष्य में होनेवाली घटनाओं की प्रतीक थी। वह चीज थी सुभाषबाबू की उस समय की मूर्ति।

मैं उस ऐतिहासिक जुलूस को बड़े बाजार के एक चौबारे से देख रहा था। वहां से जो कुछ दिखाई दिया, उसे मैंने एक लेख में चित्रित किया था। उसका एक अंश लिख देता हूं :

"राष्ट्रपति की गाड़ी के आगे-आगे प्रधान सेनापति की मोटर जा रही थी। प्रधान सेनापति पूरे सैनिक वेश में मोटर के हुड पर बैठे हुए थे। उनका एक-एक अंग सेनापति के सांचे में ढला हुआ था। वह सोलहों आने कोई चीनी या जापानी जनरल प्रतीत होते थे। जितने जयकारे सुभाषबाबू की कार के निकलने पर उठे, उतने अन्य किसी गाड़ी के निकलने पर सुनाई नहीं दिये। ऐसा प्रतीत होता था, मानो जनता उस अहिंसात्मक स्वयंसेवकों के सेनापति को भारत की स्वतंत्र राष्ट्रीय सेनाओं के प्रधान सेनापति के बीज के रूप में देख रही थी।"

कलकत्ते की उस कांग्रेस का एक और दृश्य सुभाषबाबू के व्यक्तित्व को प्रकाशित करनेवाला था। कन्वेन्शन में भारत का जो भावी विधान स्वीकार हुआ था, उसमें भारत का लक्ष्य औपनिवेशिक स्व-

राज्य माना गया था। कन्वेन्शन एक गंगा-जमुनी सभा थी। उसमें गरम-नरम और वर्फ-जैसे ठंडे लोग भी शामिल थे। वहां औपनिवेशिक स्वराज्य का प्रस्ताव उपस्थित होने को था। उसे कांग्रेस के गले से उतारना वहुत कठिन था। अपने दो महारथियों के नेतृत्व में युवक-दल औपनिवेशक स्वराज्य को कूड़े की टोकरी में फेंकने के लिए तैयार खड़ा था। वे दो महारथी पं० जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र वोस थे। जव अ० भा० कमेटी के सामने लक्ष्य-संवंधी प्रस्ताव आया, तव उसपर एक संशोधन भेजा गया, जिसके प्रस्तावक पं० जवाहरलाल नेहरू और अनुमोदक सुभाषचंद्र वोस थे। संशोधन का आशय यह था कि हमारा ध्येय पूर्ण स्वाधीनता है, औपनिवेशिक स्वराज्य नहीं।

मूल प्रस्ताव को उपस्थित करने के लिए राष्ट्रपति ने सत्याग्रह आश्रम में विशेष संदेश भेजकर महात्मा गांधी को वुलाया था। दोनों युवक नेताओं के सम्मिलित आक्रमण का इतना आतंक था कि अनिच्छा होते हुए भी पं० मोतीलालजी की सहायता के लिए महात्मा गांधी को अपनी द्वारिका छोड़कर आना पड़ा। यह वात महात्माजी ने अपने भाषण में स्पष्ट कह दी थी।

महात्माजी ने प्रस्ताव को उपस्थित करने के समय जो भाषण दिया, वह उन सव गुणों का परिचायक था, जिन्होंने उन्हें भारत की राजनीति पर पच्चीस साल तक प्रभुत्व करने का अधिकार दिया था। प्रारंभ में उन्होंने औपनिवेशिक स्वराज्य का अर्थ समझाया, फिर उसके गुण वतलाये और उसके पश्चात संशोधन की चर्चा की। वह चर्चा इतनी संशोधन की नहीं थी, जितनी उसके प्रस्तावक की थी।

महात्माजी का भाषण इतना मार्मिक था कि पं० जवाहरलाल नेहरू वीच में ही उठकर चले गये। लगा कि प्रस्तावक की अनुपस्थिति में संशोधन पेश ही नहीं किया जा सकेगा। लेकिन नहीं! भाषण के उपरांत वंगाल के प्रतिनिधियों में से अकस्मात आवाज आई, "महोदय, मैं इस संशोधन को उपस्थित करता हूं।" और सुभाषवावू ने मंच पर आकर वड़े जोरदार वक्तव्य द्वारा संशोधन को उपस्थित किया, परंतु

पं० जवाहरलालजी की अनुपस्थिति ने संशोधन का जोर तोड़ दिया।

यह घटना उस समय साधारण समझी गई, क्योंकि महात्माजी का कांग्रेस में सफल होना असाधारण बात नहीं थी। यह तो पूर्व-निर्णीत-सी बात थी। उस घटना का विशेष महत्व यह था कि उसने सुभाषबाबू के स्वभाव का स्पष्ट परिचय दे दिया। वह और पं० जवाहरलालजी दोनों ही अग्रगामी दल के नेता माने जाते थे। दोनों भारत की पूर्ण स्वाधीनता के पक्षपाती थे। महात्माजी से सार्वजनिक रूप में मतभेद होने पर दोनों पर उसकी प्रतिक्रिया अलग-अलग हुई। जवाहरलालजी महात्माजी के सामने से हट गये और सुभाषबाबू छाती तानकर खड़े रहे।

इस परिस्थिति ने जहां इन दोनों के स्वभावों की भिन्नता को स्पष्ट कर दिया, वहां दोनों के भविष्य की भी झलक दिखा दी। उस अधिवेशन में यद्यपि सुभाषबाबू का संशोधन गिर गया, तो भी अगले वर्ष लाहौर में वह सर्वसम्मति से स्वीकार हो गया। भाग्यों का फेर यही रहा कि लाहौर में कांग्रेस के सभापति पं० जवाहरलालजी थे, सुभाषबाबू नहीं। एक वर्ष पूर्व सुभाषबाबू की असफलता ने जवाहर-लालजी की सफलता का मार्ग तैयार कर दिया था।

सुभाषबाबू का तीसरी बार साक्षात्कार करने का अवसर कई वर्षो पश्चात मिला। सन १९३७ के आरंभ में दिल्ली में कांग्रेस की ओर से निर्वाचित सदस्यों का राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। उसके अध्यक्ष पंडित जवाहरलालजी थे। स्वागताध्यक्ष की हैसियत से मैंने सुभाषबाबू को भी विशेष रूप से निमंत्रित किया था। वह उन दिनों विलायत से लौटकर आये थे और अस्वस्थ थे। उनके विलायत जाने की भी एक कहानी थी। कलकत्ते की कांग्रेस के समय महात्माजी तथा उनके निकट अनुयायियों और सुभाषबाबू के बीच में जो खाई खुदी थी, वह निरंतर गहरी और चौड़ी होती गई। इस परिस्थिति से उकताकर सुभाषबाबू विदेश यात्रा को निकल गये। भारत सरकार तो उनसे परेशान थी ही, अनुकूल अवसर पाकर सरकार ने उन्हें बाहर ही रोक दिया। उनके भारत वापस आने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इस प्रकार

कई वर्षों तक सुभापवावू को प्रवासी वने रहने के लिए वाधित होना पड़ा।

सन १९३७ के मार्च मास में देश की परिस्थिति को शांत समझकर सरकार ने प्रतिवंध उठा दिया। तव सुभापवावू भारत लौट आये, परंतु उनका स्वास्थ्य अभी ऐसा नहीं हुआ था कि थकाने-वाले राजनैतिक कार्य में पड़ जाते। चिकित्सकों ने परामर्श दिया कि कुछ समय तक विश्राम द्वारा स्वास्थ्य सुधार करके ही कार्य-क्षेत्र में उतरना चाहिए।

दिल्ली-सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए मेरा निमंत्रण पहुंचने पर उन्होंने जो पत्र लिखा, उसमें स्वास्थ्य की निर्वलता के कारण आने में असमर्थता प्रकट करते हुए यह सूचना दी कि मैं शीघ्र ही स्वास्थ्य-सुधार के लिए डलहौजी जा रहा हूं, मुझे दिल्ली स्टेशन पर मिलना। तार द्वारा गाड़ी की सूचना मिलने पर मैं और मेरी पत्नी भोजन आदि लेकर स्टेशन पर पहुंचे, तो स्तव्ध रह गये। कलकत्ते में जिस चेहरे पर से स्वास्थ्य चू रहा था, वह पीला पड़ा हुआ था। स्वर और गति में भी निर्वलता के चिह्न थे।

यह परिवर्तन देखकर चित्त को वहुत दुख हुआ। शरीर निर्वल हो गया था, परंतु हृदय के सौजन्य और चेहरे की मुस्कराहट में कोई भेद नहीं आया था। उस समय दिल्ली के कुछ और मित्र भी स्टेशन पर पहुंचे हुए थे। हम सवसे वह लगभग आध घंटे तक राज-नैतिक विपयों पर वातचीत करते रहे। वातचीत में सुभापवावू वहुत ही स्पष्टवादी थे। मैंने अनुभव किया कि कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्ताओं से अपने गहरे मतभेद को स्पष्ट शव्दों में प्रकट करते हुए भी उन्होंने न तो किसी कड़वे शव्द का प्रयोग किया और न ही किसी प्रकार के निराशावाद की झलक आने दी। मतभेदों को सार्वजनिक जीवन का आवश्यक अंग वतलाते हुए उसका दार्शनिक रूप से विवेचन किया और अंत में यह वाक्य कहा, "हमें विश्वास रखना चाहिए कि अंत में हमारे विचारों को सफलता मिलेगी।"

मैं अपने पत्रकारिता और सार्वजनिक सेवा के लंवे जीवन में

अनेक महापुरुषों से मिला हूं। उन सबकी कुछ-न-कुछ स्मृतियां मेरे हृदय में सन्निहित हैं। परंतु उनमें से जिन दो महानुभावों ने स्वयं स्थूल रूप में अपनी स्मृति मेरे पास भेजी, उनमें से एक सुभाषबाबू थे। उन्होंने डलहौजी पहुंचकर अपने हस्ताक्षरों से अंकित अपना एक नवीनतम फोटो मेरे पास भेजा, जिसके नीचे लिखा हुआ है—"योर्स सिंसियर्ली सुभाष सी० बोस २२-८-३७।" मैं इसे सज्जनता और सहृदयता का प्रतीक समझकर निधि के समान आदर की दृष्टि से देखता हूं।

अगले कई वर्षों तक मैं श्री सुभाषचंद्र बोस के निकट संपर्क में नहीं आ सका। उसका मुख्य कारण यह था कि मैं कांग्रेस की अधिकृत नीति के साथ मिलकर कार्य करता रहा और सुभाषबाबू अग्रगामी दल का नेतृत्व कर रहे थे। उनके लिए अत्यंत प्रेम और आदर का भाव रखते हुए भी मुझे उनके समीप जाने का अवसर नहीं मिला। सुभाषबाबू का जीवन भी आंधी की तरह अनेक देश-प्रदेशों में घूमता हुआ सिंगापुर में जा पहुंचा, जहां उन्होंने वह रूप धारण कर लिया, जो उन्हें सबसे अधिक जंचता था। वह 'आजाद हिंद फौज' के प्रधान सेनापति और स्वतंत्र भारत सरकार के प्रमुख पद पर निर्वाचित होकर 'नेताजी' पद से विभूषित किये गये। उस समय उन्होंने वह वेश धारण कर लिया, जिसका स्वप्न मैंने कलकत्ते के कन्वेन्शन के समय देखा था। नेताजी के सिपाहियाना वेश में सुभाषबाबू के चित्र को देखकर ऐसा अनुभव होता था कि दैव ने उन्हें यही वेश धारण करने के लिए उत्पन्न किया था।

उन दिनों प्रतिदिन रात्रि के प्रथम प्रहर में रेडियो पर नेताजी के श्रवण द्वारा दर्शन हो जाते थे। उसे केवल भारत के निवासी ही नहीं, भूमंडल के अन्य भागों में रहनेवाले भारतीय भी बड़ी उत्सुकता से सुनते थे। सिंगापुर के रेडियो से सुभाषबाबू के ओजस्वी भाषण सुनकर यह अनुभव होने लगता था कि अब आजाद हिंद फौज के "दिल्ली चलो!" का नारा लगाते हुए दिल्ली पहुंचने में देर नहीं, परंतु भाग्य को कुछ और ही मंजूर था। एक दिन प्रातःकाल समाचार-पत्रों में पढ़ा कि

नेताजी सुभाषचंद्र बोस जापान जाते हुए हवाई जहाज की दुर्घटना में समाप्त हो गये। भारतवासी उस समाचार को पढ़कर स्तब्ध रह गये।

मेरे लिए तो उनकी स्मृति उस चित्र के रूप में विद्यमान है, जिसपर उनके हस्ताक्षर हैं। मैं उसे देखता हूं और कहता हूं :

बहुत गौर से सुन रहा था जमाना,
तुम्हीं सो गये दास्तां कहते-कहते।

: १२ :

मिस्टर आसिफ़अली

सन १९१८ के दिसंवर मास के अंत में दिल्ली में कांग्रेस का बड़ा अधिवेशन होनेवाला था। मैं उन दिनों गुरुकुल विश्वविद्यालय में उपाध्याय पद को छोड़कर सार्वजनिक कार्य में भाग लेने के लिए दिल्ली आ गया था। नवंवर के अंतिम सप्ताह में कांग्रेस की स्वागतकारिणी सभा का चुनाव करने के लिए रायवहादुर लाला सुल्तानसिंह की कोठी के विशाल मैदान में चुनाव सभा का आयोजन किया गया था। उसमें शायद ढाई-तीन सौ आदमी शामिल हुए। उन दिनों कांग्रेस का कोई नपा-तुला संविधान नहीं था। जिन्हें चुनाव में दिलचस्पी होती थी, वे एकत्र होकर स्वागत-समिति का निर्माण कर देते थे। कुछ लोग निश्चित शुल्क देकर पहले से सदस्य वने होते थे, कुछ उसी समय वन जाते थे और वहुत-से इस आशा से सदस्य मान लिये जाते थे कि वे चंदा दे ही देंगे। ऐसे ढाई-तीन सौ सदस्यों की उपस्थिति में सभा का कार्य आरंभ हुआ। अजमेर के वयोवृद्ध वकील श्री चंडिकाप्रसादजी उस समय के सभापति निर्वाचित किये गये। अध्यक्ष-पद के लिए दो नाम प्रस्तुत किये गये। एक हकीम अजमलखां साहव का और दूसरा रायवहादुर लाला सुल्तानसिंह साहव का। प्रतिष्ठित नामों के पीछे 'साहव' शब्द का प्रयोग दिल्ली की उस समय की संस्कृति का आवश्यक अंग था। हकीमसाहव का नाम नये विचार के कांग्रेसियों ने और रायवहादुर का नाम पुराने विचार के राष्ट्रीय लोगों ने उपस्थित किया था। दोनों ही सम्मानित व्यक्ति थे। एक का परास्त होना और दूसरे का जीतना किसीको अच्छा नहीं लग रहा था। इस कारण जव सम्मति लेने का समय आया, तव इस

विपय पर भापण होने लगे कि सम्मतियां न ली जायं और एकमत से फैसला हो। सुझाव तो अच्छा था, परंतु कठिनाई यह थी कि हर एक प्रस्तावक एकमत से उसीका निर्वाचन चाहता था, जिसका नाम उसने उपस्थित किया था। यह वहस लगभग दो घंटे तक होती रही। जव कोई अंत दिखाई न दिया तो, सभापति ने घोपणा की कि मिस्टर आसिफ़अली वैरिस्टर आप लोगों से कुछ अपील करना चाहते हैं। इस घोपणा पर सभा में सन्नाटा छा गया। उस समय तक दिल्ली में आसिफ़अली साहव की अद्‌भुत भाषण शैली की धाक जम चुकी थी।

मैं भी दिल्ली आकर मिस्टर आसिफ़अली का नाम सुन चुका था। उन्हें देखने और सुनने की उत्सुकता मन में उत्पन्न हो चुकी थी। पांच मिनट पहले जिस सभा ने तूफानी नदी का रूप धारण किया हुआ था, इस समय सर्वथा शांत थी। सभा की पिछली पंक्ति से उठकर सभापति की ओर वढ़ते हुए मिस्टर आसिफ़अली का जो रूप तथा वेश दिखाई दिया, वह मेरी मेरी आंखों के सामने अवतक चित्रित है। दर्मियाना कद, इकहरा शरीर, गोरा रंग, सुंदर प्रतिभा-संपन्न चेहरा—यह था शरीर का निर्माण। उसपर वेश उस समय के दिल्ली के वेश का नमूना था। सिर पर दूव की तरह सफेद दुपल्ली टोपी, उसी रंग की अचकन और उसीसे मेल खाता हुआ तंग पायजामा, पैरों में सफेद जुरावें और चमकता हुआ सफेद देसी जूता—यह था उनका वेश। इस वेश को देखकर उस समय मुझे वहुत आश्चर्य हुआ। सव-कुछ वहुत सुंदर था, परंतु उस सभा से मेल नहीं खा रहा था। यह आश्चर्य वहुत-थोड़े समय तक रहा। ज्योंही मिस्टर आसिफ़अली ने वोलना आरंभ किया, ध्यान उनकी वेशभूपा से हटकर शव्दों की ओर खिंच गया। उन शव्दों में जादू का-सा असर था। दिल्ली की उर्दू पर मिस्टर आसिफ़-अली का प्रभुत्व था। शव्दों की रचना और व्याख्यान की शैली वेजोड़ थी। जव आप वीच-वीच में अवसर के अनुकूल महाकवियों के शेर वोल देते थे, तव तो श्रोता मानो उछल पड़ते थे। उनकी १५ मिनट की जादूवयानी का यह असर हुआ कि प्रस्तावक ने रायवहादुर सुल्तानसिंह

का नाम वापस ले लिया और हकीम अजमलखां साहब सर्वसम्मति से स्वागताध्यक्ष निर्वाचित हुए।

इस प्रथम दर्शन के पश्चात लगभग २७ वर्षों तक मेरा मिस्टर आसिफ़-अली से सार्वजनिक कार्यों में निरंतर साथ रहा। धीरे-धीरे सार्व-जनिक सहयोग ने भाइयों के-से परस्पर प्रेम का रूप धारण कर लिया था। स्वभाव से वह बहुत ही भावुक और प्रेमी जीव थे। अधिक परिचय से मुझे यह पता चला कि उनके पूर्वज दिल्ली के बहुत पुराने निवासी नहीं थे। वे लोग दो पीढ़ी पहले नगीने से आकर दिल्ली में बसे। इस प्रकार उनमें मानो उत्तर प्रदेश की संस्कृति पर दिल्ली के तमद्दुन की कलम लगी हुई थी। शिष्टाचार और नफासत में मिस्टर आसिफ़-अली को परास्त करना कठिन था। यदि वह राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश न करते, तो उनके उर्दू के अच्छे शायर बन जाने में कोई संदेह नहीं था। उनकी प्रवृत्तियां कला-प्रधान थीं। भोंडापन और अव्यवस्था देखकर वह परेशान हो जाते थे। भावुक व्यक्तियों में जो विशेषताएं होती हैं, वे सब उनमें पाई जाती थीं। राजनैतिक रणक्षेत्र में वह वर्षों तक बहादुरी से लड़ते रहे और कभी आंखें नीची नहीं की। उनमें क्षत्रियों-वाली वीरता थी और उसके साथ ही कवियोंवाली भावुकता मिली हुई थी। जब असहयोग आंदोलन पूरे जोर पर आया, तो आसिफ़ साहब बैरिस्टरी का परित्याग करके पूरा समय कांग्रेस की सेवा में लगाने लगे। वह प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के प्रधान मंत्री निर्वाचित हुए। निर्वाह के लिए कमेटी ने उन्हें तीन सौ रुपये मासिक देने का निश्चय किया। यह उनकी वकालत की कमाई के सामने कुछ भी नहीं था। फिर भी हमारा सार्वजनिक जीवन अभी इतना कच्चा था कि कुछ सदस्यों ने दूसरे साल बजट के समय कुछ फिज़ूल-सी आपत्तियां उठा दीं। इस पर मिस्टर आसिफ़अली ने निर्वाह के लिए मासिक राशि लेनी बंद कर-दी। इसके पश्चात सारा समय देश की सेवा में व्यतीत करते हुए उन्होंने किस प्रकार जीवन निर्वाह किया, यह उनके मित्र ही जानते हैं। एक समय ऐसा भी आया, जब वह वस्तुतः राष्ट्र की सेवा में फकीर बन गये थे। यह देखकर उनके मित्रों को आश्चर्य होता था कि जो व्यक्ति

पुलिस के जत्थे में घुसकर गोरे सार्जेंट के हाथ से राष्ट्रीय झंडा छीनने का साहस कर सकता है, वह कमेटी की बैठक में अनुचित आलोचना सुनकर इतना अधिक विक्षुब्ध कैसे हो जाता है ? इसका कारण यही था कि मिस्टर आसिफ़अली योद्धा भी थे और कवि भी। उनपर भवभूति की यह उक्ति पूरी तरह चरितार्थ होती थी :

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ॥

—असाधारण व्यक्तियों के हृदय वज्र से अधिक कठोर और फूल से अधिक कोमल होते हैं, उन्हें कौन समझ सकता है !

राष्ट्रीय संग्राम के दिन गुजर गये और १९४७ के अगस्त मास की १५ तारीख को देशभक्तों को अपने तपस्या-रूपी वृक्ष पर फल लगते दिखाई देने लगे। मिस्टर आसिफ़अली स्वराज्य के पहले मंत्रिमंडल में सम्मिलित किये गये। जिन लोगों का उनसे परिचय था, उनकी चिरकाल से यह सम्मति थी कि मिस्टर आसिफ़अली शासन के किसी पद के योग्य हैं। उनके मंत्रिमंडल में सम्मिलित होने पर सबको बहुत संतोष हुआ। कुछ समय तक केंद्रीय सरकार के मंत्री रहने के पश्चात वह अमरीका में भारत के राजदूत नियत किये गये। राजदूत का पद उनके लिए मंत्री के पद से भी अधिक उपयुक्त था। राजदूत में जिन गुणों की आवश्यकता होती थी, वे सब आसिफ़साहब में प्रभूत मात्रा में विद्यमान थे। व्यवहार में नफासत, भाषा में सौंदर्य और मधुरता, रूप, रंग और वेश सर्वथा निर्दोष—यही सब गुण हैं, जो किसी व्यक्ति को विदेश में अपने देश का श्रेष्ठ प्रतिनिधि बनाते हैं। मिस्टर आसिफ़अली में उनकी कमी नहीं थी। जिस दिन उनके राजदूत-पद पर नियत किये जाने की घोषणा हुई, उससे अगले दिन प्रातःकाल मैं बधाई देने के लिए उनके बंगले पर गया। वह पृथ्वीराज रोड पर २२ नबंर बंगले में रहते थे। वहां पहुंचकर मालूम हुआ कि नये शिक्षा मंत्री मौलाना अबुलकलाम आज़ाद भी कुछ दिनों से उसी बंगले में आ गये हैं और आसिफ़साहब के जाने के बाद उसीमें रहेंगे। कोठी बहुत विशाल और शानदार बनी हुई थी। सदर दरवाजे के अंदर घुसते ही सुंदर फुलवाड़ी और

उद्यान का दृश्य दिखाई देता था। बरामदे में सब-कुछ साफ-सुथरा और सुरुचि से सजाया हुआ देखकर चित्त प्रसन्न हो गया। चपरासी मेरे नाम का कार्ड लेकर अंदर गया और वहां से लौटकर सलाम करके बोला, "हुजूर अंदर चलकर बैठक में बैठें। साहब अभी आते हैं।" मैंने पूछा, "कार्ड मिस्टर आसिफ़अली के पास पहुंचा दिया?" उत्तर मिला, "साहब, गुसलखाने में हैं। कार्ड बेगमसाहिबा को दिया गया है।"

मैं बैठक में चला गया। वह बैठक अपने ढंग की एक थी। मैंने वाइसराय की कौन्सिल के अन्य किसी सदस्य की बैठक इस ढंग से सजी हुई नहीं देखी। बहुत विशाल कमरे में कौच या कुर्सी का सर्वथा अभाव था। लगभग कमरे के आकार का सुंदर कालीन फर्श पर बिछा हुआ था। उस पर चारों दिशाओं में चार तख्त थे। तख्तों पर गलीचे डालकर खद्दर की सुंदर फूलदार चादरों से ढक दिये गये थे। प्रत्येक तख्त पर तीन-तीन मसनद सजे हुए थे। बीच का मसनद बड़ा और किनारों के छोटे। प्रत्येक तख्त के पास छोटी मेजों पर सिगार की राख डालने के लिए ऐश-ट्रे और पान-इलायची के लिए जयपुरी काम की तश्तरियां रखी हुई थीं। प्रत्येक तख्त के पास एक पीकदान था। कमरे के बीचों-बीच कई पहलुओंवाली एक मेज थी, जिसके खुले खानों में सुंदर जिल्द की कुछ पुस्तकें सजाई हुई थीं। उनमें से उमर खय्याम की रुबाइयों के अंग्रेजी अनुवाद की शानदार जिल्द दूर से दिखाई दे रही थी। बैठक में जितने फूलदान थे, उनमें ताजा फूलों के खूबसूरत गुलदस्ते सजे हुए थे। उन्हें देखकर स्पष्ट मालूम होता था कि ये आज ही तैयार किये गये हैं। वस्तुतः यह बैठक मिस्टर आसिफ़अली की प्रकृति की रुचि का सर्वथा प्रतिबिंब थी। मुझे लगभग पंद्रह मिनट तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। परंतु वह समय मुझे अखरा नहीं, क्योंकि उस समय मुझे गृह-स्वामी के बाह्य-रूप का अनुशीलन करने का अवसर मिल गया था। पंद्रह मिनट के पश्चात मिस्टर आसिफ़अली बगल के दरवाजे से निकलकर आये। खद्दर का सफेद पाजामा और कुरता पहने हुए सिंधी वेश में वह बहुत ही भले मालूम देते थे। उनका इस प्रकार सरलता से मिलना बहुत ही अच्छा प्रतीत हुआ, क्योंकि उन्हीं दिनों जब मैं मंत्रिमंडल के

अन्य परिचित सदस्यों से भेंट करने गया, बाबू राजेंद्रप्रसाद को छोड़कर कोई भी सदस्य ऐसी बेतकल्लुफ़ी से नहीं मिला। मिस्टर आसिफ़अली ने सदा की भांति आगे बढ़कर बड़े प्रेम से हाथ मिलाते हुए कहा, "इंद्रजी बहुत दिनों से मिले। मालूम होता है जैसे सदियां बीत गईं।" उसके पश्चात हाथ मिलाये-मिलाये ही दोनों उस तख्त पर बैठ गये, जिसपर सीधी धूप पड़ रही थी। मैंने पूछा, "कहिये, अब तबीयत कैसी है ? सुना था, कुछ खराब है।" मि० आसिफ़अली ने उत्तर दिया, "खैरियत है, बस जिंदा हूं।"

इसके पश्चात बहुत-सी बातें हुईं। मिस्टर आसिफ़अली ने अपने सरकारी जीवन के बहुत-से अनुभव सुनाये। भविष्य के संबंध में अनेक योजनाएं और आशाएं प्रकट कीं और अंत में कहा कि मित्रों की शुभ कामनाओं से मुझे बल मिला है। उस बातचीत में उनके दिल और दिमाग के वे सब गुण विद्यमान थे, जिनके कारण वह इस ऊंचे स्थान पर पहुंचने के अधिकारी थे।

अमरीका में भारत के प्रतिनिधि बनकर जाने के पश्चात मिस्टर आसिफ़अली बहुत वर्षों तक दिल्ली से बाहर रहे। उनसे मेरी अंतिम भेंट उस अवसर पर हुई, जब दिल्ली के लाल किले में भारतीय संस्कृति सम्मेलन का विशाल आयोजन किया गया था। उसके स्वागताध्यक्ष श्रीयुत श्रीप्रकाशजी थे और उद्घाटन डॉ० राजेंद्रप्रसादजी ने किया था। अकस्मात आसिफ़साहब भी उन दिनों यहीं थे। उनका भारतीय संस्कृति पर एक छोटा-सा भाषण हुआ। वह शायद पंद्रह मिनट से कम ही बोले थे, परंतु इतने थोड़े समय में उन्होंने जो कुछ कहा और जिस तरह कहा, उसने दिल्लीवालों को फड़का दिया। वही परिष्कृत उर्दू, वही रोबीली अदा और भावों की वही नजाकत, जिसने पच्चीस वर्षों तक दिल्ली निवासियों को मुग्ध किया था, उस दिन भी उसी रूप में सामने आ गई। वर्षों के बाद आसिफ़अली साहब के मुंह से भाषण के मध्य में सामयिक शेर सुनकर दिल्लीवाले उछल पड़े। उनमें दिल्ली की पुरानी संस्कृति और बिलकुल नई संस्कृति का ऐसा सुंदर मेल था कि यदि हम उन्हें दिल्ली के व्यतीत काल को वर्तमान से जोड़नेवाली

सुनहली शृंखला कहें, तो अनुचित न होगा । उनके लिए ग़ालिब और तुलसी में कोई भेद न था । समय आने पर वह ग़ालिब और तुलसी दोनों के उद्धरण दे देते थे। जेल में उन्होंने हिंदी का अभ्यास करके तुलसी-रामायण भी पढ़ ली थी।

जब मिस्टर आसिफ़अली के भौतिक शरीर ने अंतिम सांस ली, वह अपने देश से और मित्र-बंधुओं से हजारों मील दूर थे। उनकी सह-धर्मिणी भी उनकी मृत्यु से कुछ घंटे पहले ही उनके पास पहुंची थीं। यह भी भाग्य की एक विडंबना ही थी कि ऐसे सामाजिक व्यक्ति का अंतकाल सर्वथा असामाजिक स्थिति में हुआ । उनके मित्रों को इस बात से बहुत दुख हुआ ।

: १३ :

उपन्यास-सम्राट प्रेमचंद

उस वर्ष गुरुकुल कांगड़ी के वार्षिकोत्सव पर आर्य-भाषा सम्मेलन का विशेष अधिवेशन रख गया था। उसका सभापतित्व स्वीकार करने के लिए बा० प्रेमचंदजी से प्रार्थना की गई, तो उन्होंने अपने सादे स्वभाव के अनुसार बिना किसी रिवाजी ननुनच के स्वीकार कर लिया। उनसे प्रार्थना की गई कि आप अपने हरिद्वार पहुंचने के समय की सूचना दे दीजिये, तो उन्होंने एक कार्ड द्वारा तारीख और समय की सूचना भेज दी।

प्रेमचंदजी लखनऊ की गाड़ी से आ रहे थे। वह गाड़ी प्रातःकाल हरिद्वार स्टेशन पर पहुंचती थी। सम्मेलन के सभापति का यथोचित स्वागत-सत्कार करने के अभिप्राय से ब्रह्ममूहूर्त्त में स्वागत-मंडली को फूल-मालाओं के साथ हरिद्वार रवाना कर दिया गया और स्टेशन से गुरुकुल तक सवारी का प्रबंध भी कर दिया गया। यह सारी व्यवस्था पूरी करके हम लोग गुरुकुल भूमि में सभापति महोदय की प्रतीक्षा करने लगे।

गाड़ी हरिद्वार आई और देहरादून की ओर रवाना हो गई। थोड़ी देर पीछे स्वागत-मंडली के लोग मुरझाये हुए निराश चित्त लेकर स्टेशन से वापस आ गये और यह समाचार देकर हम लोगों के हर्ष पर तुषारापात कर दिया कि प्रेमचंदजी लखनऊ की गाड़ी से नहीं आये। मुझे इस समाचार से विशेष निराशा हुई, क्योंकि मेरी ही प्रेरणा से प्रेमचंदजी को सम्मेलन का सभापति मनोनीत किया गया था और शायद मैं ही उन्हें पहचानता भी था। जब यह सूचना मिली कि मनोनीत सभापतिजी नहीं आये, तो विचार होने लगा कि अब सभापति की कुरसी पर किसे बिठाया जाय।

जब एकदम सभापति के पद के लिए कोई नाम न सूझा, तो यह सोचा गया कि उत्सव के कैंप में घूमकर किसी योग्य सभापति का वरण किया जाय। इस उद्देश्य से कार्यालय के तंबू से निकले ही थे कि सामने से सड़क पर एक ऐसे व्यक्ति आते दिखाई दिये, जिनके सिर पर खद्दर की टोपी थी, चेहरे पर घनी मूंछें, शरीर खद्दर के कुरते और धोती से ढका हुआ और पैरों में चप्पल। मुझे दूर से भान हुआ कि प्रेमचंदजी की मूर्ति भी तो ऐसी ही है, परंतु वह तो आये नहीं, फिर यह सज्जन कौन हैं ? पास जाकर देखा, तो सचमुच प्रेमचंदजी निकले, जिनके पीछे-पीछे सिर पर विस्तर रखे हुए एक मजदूर आ रहा था।

मुझे देखकर जोर से हंसकर बोले, "आखिर मैं गुरुकुल आ ही पहुंचा ! भाई, वड़ा लंवा रास्ता है।"

मैंने आश्चर्य से पूछा, "आप आये किस गाड़ी से ? लखनऊ की गाड़ी से तो आप आये नहीं !"

'मैं तो उसी गाड़ी से उतरा हूं और सीधा स्टेशन से आ रहा हूं।"

स्वागत-मंडली की ओर निर्देश करते सुए मैंने कहा, "ये लोग स्टेशन गये थे। इन लोगों ने आकर सूचना दी कि सारी गाड़ी में ढूंढ़ने पर भी आप कहीं-नहीं दिखाई दिये।"

प्रेमचंदजी इसपर अट्टहास करते हुए वोले, "मैंने तो इन लोगों को स्टेशन पर देखा था। ये सव भाई फूल-मालाएं लिये घूम रहे थे। मैंने समझा कि किसी वड़े आदमी को लेने आये हैं। मैं इनसे वचकर चुपके से निकल आया और एक मजदूर के सिरपर विस्तर रखवाकर यहां चला आया। गुरुकुल का रास्ता तो स्टेशन पर सभी को मालूम था। मुझे कोई दिक्कत नहीं हुई।"

प्रेमचंदजी कुली के सिरपर विस्तर रखवाकर और तीन मील चलकर गुरुकुल पहुंचे थे और इस प्रकार गुरुकुल की स्वागत-मंडली को चकमा देने की खुशी में खिलखिलाकर हंस रहे थे। मजे की वात यह कि उनकी हंसी में व्यंग का कोई अंश न था। वह वस्तुतः इस प्रकार चुपचाप गुरुकुल पहुंचने में शायद साहित्यिक विनोद का अनुभव कर रहे थे। मैंने उनसे जो क्षमा-याचना की, वह उनकी

कुछ समझ में नहीं आई। उसे उन्होंने व्यर्थ वा तकल्लुफ ही समझा प्रतीत होता था। वह शायद उस अनुभव में भी किसी कहानी का कथानक तैयार कर रहे होंगे। प्रेमचंदजी के परिचित व्यक्तियों में से अनेक इससे मिलती-जुलती घटना सुना देंगे। कारण यह है कि सरलता, बनावट का अभाव और निर्व्याज हंसी, ये प्रेमचंदजी के नैसर्गिक गुण थे, जो उनके प्रत्येक व्यवहार से प्रकट हो जाते थे।

एक और बड़ी ही मनोरंजक कहानी है। बिहार के भीषण भूकंप के पश्चात सेवा-कार्य के लिए मैं, मेरी पत्नी, डॉ० सुखदेवजी और पं० धर्मवीरजी बिहार गये थे। कुछ समय तक देखने व कार्य करने के अनंतर डा० सुखदेवजी और धर्मवीरजी वहीं रह गये और हम दोनों वापस आ गये। रास्ते में बनारस पड़ता था। यह सोचकर कि प्रेमचंदजी से मिल लेंगे और हिंदू विश्वविद्यालय भी देख लेंगे, एक दिन के लिए बनारस उतर गये। दशाश्वमेध घाट पर एक होटल था। वहां ठहरे। प्रातःकाल के समय पहले 'सरस्वती प्रेस' तलाश किया, फिर वहां से एक मार्ग-दर्शक लेकर प्रेमचंदजी के निवास-स्थान पर पहुंचे। शहर से बाहर एक अलग-सा मकान था, जिसकी निचली मंजिल में एक दरी या खेस पर बैठे हुए उपन्यास-सम्राट डैस्क पर कागज रखकर लिख रहे थे। हमें देखकर अपनी बच्चों-जैसी हंसी से हमारा स्वागत करते हुए वह उठे और शिष्टाचार की बातें करने के अनंतर एकांत में मकान लेने के पक्ष में कई युक्तियां देते रहे, मानो हमारे इस अकथित प्रश्न का समाधान कर रहे हों कि आप इस दुनिया से अलग-थलग क्यों रहते हैं और अगर रहते हैं, तो दुनिया के संबंध में इतना ज्ञान कैसे इकट्ठा कर लेते हैं।

थोड़े समय के बाद प्रेमचंदजी की सहधर्मिणी श्रीमती शिवरानी देवीजी भी हमारी बातचीत में शामिल हो गईं। परिणाम यह हुआ कि हमें रात के भोजन का निमंत्रण मिला। हमारी ओर से दो-तीन बार विधिपूर्वक इन्कार और उनकी ओर से तीन-चार बार आग्रह के पश्चात स्वीकार करना पड़ा। रात भोजन करने के अनंतर अगले दिन का कार्यक्रम निश्चित हुआ कि प्रातःकाल ही प्रेमचंदजी होटल

में हम लोगों के पास आ जायेंगे और सब मिलकर हिंदू विश्व-विद्यालय देखने चलेंगे।

दूसरे दिन प्रातःकाल पूर्व निश्चय के अनुसार प्रेमचंदजी हम लोगों के पास पहुंच गये। उसी दिन शाम की गाड़ी से दिल्ली वापस जाने का विचार था। इस कारण यह निश्चय किया गया कि होटल से उसी समय सामान उठा लिया जाय और उसे किसीके यहां रखकर तांगे से विश्वविद्यालय चला जाय। सामान लिये-लिये दिन-भर घूमना अच्छा प्रतीत नहीं होता। निश्चय तो हो गया, परंतु प्रश्न यह उठा कि सामान कहां रखा जाय। जिन सज्जनों से मेरा परिचय था, उनके स्थान वहां से बहुत दूर थे। प्रेमचंदजी का मकान भी काफी दूर था। फलतः मैंने उनसे कहा कि कोई पास की ऐसी जगह बतलाइये, जहां सामान रख दिया जाय। उन्होंने उत्तर दिया कि मुझे तो बनारस के स्थानों या व्यक्तियों से विशेष परिचय नहीं है। मैं ऐसा कोई स्थान कैसे बताऊं। इस उत्तर से हमारे आश्चर्यान्वित होने पर वह खिलखिलाकर हंसे, जैसाकि वह प्रायः हंसा करते थे। प्रेमचंदजी की वह हंसी उनकी अपनी ही चीज थी। कभी-कभी यह समझना कठिन हो जाता था कि वह क्यों हंसे। कोई बाह्य कारण समझ में नहीं आता था। असल बात यह थी कि उनकी हंसी उनके हृदय की सादगी का एक प्रत्यक्ष उद्गार हुआ करती थी। वह बच्चों की-सी सरल हंसी थी, प्रौढ़ों की-सी नियमित या पेचीदा हंसी नहीं। उनके मित्र जानते हैं कि कई अंशों में वह अंत तक बच्चों की तरह सरल रहे।

सामान कहां रखा जाय, इस प्रश्न पर देर तक विचार होता रहा। इसी बीच में तांगा आ गया और हमारा सामान उठने लगा। जब हम लोग उसमें बैठ गये और तांगा चलने लगा, तब मैंने प्रेमचंदजी से कहा, "अच्छा, तो यह बात रही कि रास्ते में जो आदमी आपको पहचानकर 'नमस्ते' या 'जयरामजी की' करे, सामान उसीके सुपुर्द किया जाय।"

इसपर प्रेमचंदजी फिर ठहाका मारकर हंसे और बोले, "तब तो

आपका सामान विश्वविद्यालय तक ही पहुंचेगा ।"

तांगा चल दिया और उन दूकानों के पास से गुजरने लगा, जहां प्रेमचंदजी के उपन्यास बिक रहे थे। परंतु किसीने उन्हें पहचानने का कष्ट नहीं उठाया। नाम से उन्हें हजारों आदमी पहचानते होंगे, परंतु सूरत से पहचाननेवाले विरले ही होंगे। सामान रखने की समस्या पर तर्क-वितर्क करते हुए और हंसते हुए शहर की सीमा पर हम पहुंच गये और लगभग निराश हो चुके थे कि एक गांधी टोपीवाले साइकिल-सवार सज्जन ने नमस्कार किया। हमारी आशा हरी हो उठी। तांगा खड़ा करके मैंने उन सज्जन से पूछा कि क्या आप हमें ऐसा कोई स्थान बता सकते हैं, जहां हम दिन-भर के लिए सामान रख सकें ? उस सज्जन ने हममें से किसीको पहचान लिया या उन्हें हम लोगों की दशा पर दया आ गई, यह ठीक-ठीक कहना कठिन है। उन्होंने एकदम उत्तर दिया, "आइये, मेरे पीछे-पीछे चले आइये। मैं आपका सामान रखवा देता हूं।"

हम उन दयालु सज्जन के पीछे अपना तांगा लेकर चल दिये। वह हमें एक गली में ले गये और एक बहुत बड़े पुराने ढंग के सदर दरवाजे के सामने खड़ा कर गये। दरवाजे पर दो बंदूकधारी सिपाही पहरा दे रहे थे। उस सज्जन ने उनसे अकेले में कुछ बातचीत की और फिर हमसे सामान रख देने को कहा। सामान उतारकर दरवान के साथ की कोठरी में रख दिया। पहचान के लिए मेरा एक विजिटिंग कार्ड उस पर नत्थी कर दिया। इस प्रकार सामान सुरक्षित स्थान पर रखकर और सज्जन को धन्यवाद देकर हमलोग तांगे में बैठकर चल दिये।

तांगे के कुछ दूर पहुंचने पर हम लोग स्वयं अपनी असावधानी पर आश्चर्य करने लगे। न वह सज्जन हमारे परिचित थे और न सिपाही। यह भी मालूम नहीं था कि मकान किसका है। बातों में सब सामान देकर चल दिये, यह वस्तुतः अचंभे की बात थी। मुझे अधिक आश्चर्य इस बात का था कि यह कार्य मेरी पत्नी के साथ रहते हो गया, जो असंदिग्ध रूप से मुझसे और प्रेमचंदजी से बहुत

अधिक सावधान हैं। मालूम होता है कि हम दोनों की परछाईं उस समय उन पर भी पड़ गई थी।

दोपहर के बाद हम लोग विश्वविद्यालय से लौटे। जबसे सामान सिपाहियों के सुपुर्द करके चले थे, तबसे हम लोग अपनी असावधानी पर आश्चर्यान्वित थे। परिस्थिति की नवीनता का मजा ले रहे थे और भविष्य के बारे में संदिग्ध थे। लौटने पर सामान मिलेगा या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर एक-दूसरे से मांग रहे थे। यों अपने सहज आशावादी स्वभाव के कारण मैं यही कहे जा रहा था कि सामान अवश्य मिलेगा, परंतु कहां और कैसे मिलेगा, मुझे भी मालूम नहीं था। जहां सामान रखा था, वहां सदर दरवाजे पर पहुंचे, तो स्थिति उलझी दिखाई दी। जिन सिपाहियों ने हमसे सामान संभाला था, वे ड्यूटी से जा चुके थे और जहां सामान रखा था, वहां उसके कोई निशान नहीं थे। सिपाहियों से सामान के बारे में पूछा गया, तो उन्होंने प्रश्न किया, "आप कहां से आये हैं ?" जब उन्हें बताया गया कि हम दिल्ली से आये हैं, तो उन्होंने एक-दूसरे की ओर देखकर मानो आंखों-ही-आंखों में सलाहकर उत्तर दिया कि आप ठहरिये, पूछकर बताते हैं।

मामला रहस्यमय होता जा रहा था। हमारा सामान वापस देने में पूछने की क्या जरूरत थी ? अब तो हम आंखों-ही-आंखों से सलाह करने लगे कि अब क्या होगा और क्या किया जाय। सिपाहियों ने ठहरने को कहा था, और ठहरने के सिवा चारा ही क्या था ! ठहरकर उत्तर की प्रतीक्षा करने लगे। थोड़ी देर में ऊपर की मंजिल से लौटकर सिपाही ने कहा, "आप लोग उधर कुरसी पर बैठें, दीवानजी अभी आते हैं।"

स्थिति और भी पेचीदा हो गई ! बीच में यह दीवानजी कहां से कूद पड़े ! थोड़ी देर में दीवानजी आये। अधेड़ उम्र के एक दरबारी सज्जन थे। हमारे पास आकर बैठ गये और बहुत नम्रता से कहा, "आप लोगों के आने से रानीजी बहुत खुश हुई हैं। उनकी इच्छा है कि आप जलपान करें।"

दीवानजी के इस निवेदन ने हम सबकी स्मृति को मानो खींच-कर 'चंद्रकांता-संतति' के कथानक पर पहुंचा दिया। बनारस शहर का बहुत बड़ा मकान, सामान नदारत, एक दीवानजी और एक रानीजी और हम लोग राहगीर! कहानी का कथानक तैयार मालूम होता था। मैंने प्रेमचंदजी के कान में कहा, "आज उपन्यास-सम्राट के संग से उपन्यास का मसाला बनेगा, ऐसा प्रतीत होता है।" इसपर दीवानजी की उपस्थिति को भुलाकर हमलोग हंसने लगे। ऐसा जान पड़ता था, मानो सामान पर कब्जा करने के बाद अब जेबों पर हाथ साफ करने का इरादा है।

इधर हालत यह हो रही थी, उधर हम लोगों के दिलों में यह उत्सुकता बढ़ रही थी कि देखें, आखिर मामला क्या है। अगर यह मकान तिलिस्म है, तो लोग तिलिस्म में से भी तो निकलते ही रहे हैं। अंत में हमने दीवानजी को उत्तर दिया, "यह तो आप लोगों की कृपा है। यों हम लोग इस समय जलपान के आदी नहीं हैं, तो भी जब रानीजी का आग्रह है, तो इन्कार भी नहीं कर सकते।"

इसपर धन्यवाद देते हुए दीवानजी उठकर चले गये और थोड़ी देर में लौटकर हमें ऊपर लिवा ले गये। कई सीढ़ियों और कई दरवाजों में से होते हुए हम एक खूब सजे हुए ड्राइंग रूम में पहुंचे, जिसकी बड़ी विशेषता यह थी कि उसमें खिड़कियों और दरवाजों पर बहुत बड़े रंगीन रेशमी परदे टंगे हुए थे। हमलोग कौच पर बिठलाये गये। थोड़ी देर में साफ-सुथरे नौकर चाय का सामान ला-कर हमारे सामने रख गये। जब चाय का सामान आ गया, तो हमें चुपचाप बैठे देखकर दीवानजी ने कहा, "शुरू कीजिये।" हम प्रतीक्षा में थे। आशा थी कि रानीजी दर्शन देंगी। पर हमें बड़ा आश्चर्य हुआ, जब पता चला कि रानीसाहिबा परदानशीन हैं और वहां नहीं आ सकेंगी। उन्होंने हमें नमस्कार भेजे। उस समय हमने अनुभव किया कि उस परदे के पीछे, जो अंदर की दीवार के मध्य में टंगा हुआ था, कुछ सरसरा-हट-सी हुई। रहस्य और भी गंभीर हो गया। रानीसाहिबा की ओर से दावत है और वह दिखाई नहीं देतीं। सामान वापस देने की कोई

चर्चा नहीं और मकान भी ऐसा है कि चिल्लाकर भी सड़क तक आवाज नहीं पहुंचाई जा सकती। एक बार मन में संदेह उठा कि नमकीन या मिठाई में नशे या बेहोशी की कोई चीज मिली हुई न हो। फिर आंखों-ही-आंखों से सलाह की और अंत में सर्वसम्मति से निश्चय किया गया कि इस परीक्षण को अंत-तक पहुंचाया जाय। निश्चित होकर चाय पी। अंत में दीवानजी को और उनके द्वारा रानीसाहिबा को धन्यवाद करके उठ खड़े हुए। तबतक भी दीवानजी ने सामान की कोई चर्चा नहीं की। जब मैंने उन्हें प्रेमचंदजी का और अपना परिचय देना आरंभ किया, तो वह हंसकर बोले कि आपका परिचय तो हमें सामान में लगे विजिटिंग कार्ड से मिल गया था। दीवानजी के उत्तर में सामान शब्द आने से हमें कुछ ढाढस हुआ कि आखिर सामान की जवाबी रसीद तो मिल गई। उसी सिलसिले को जारी रखते हुए मैंने दीवानजी से कहा कि हमें आज दिल्ली वापस जाना है। सामान निकलवा दीजिये, तो हम लोग स्टेशन चले जायं।

दीवानजी ने बड़े शिष्टाचार से उत्तर दिया कि सामान की चिंता न कीजिये, वह स्टेशन पर पहुंच जायगा। पाठक अनुमान लगा सकते हैं कि इस उत्तर ने रहस्य को कितना अधिक गंभीर बना दिया होगा। हम लोग अपने-आपको बिलकुल लाचार अनुभव करने लगे। अब तो उस मकान से बाहर जाना भी एक समस्या बन गई। हमने कहा, "तो हमें स्टेशन जाने की आज्ञा दीजिये।"

इसका दीवानजी ने जो उत्तर दिया, वह अजीब था। कम-से-कम उस समय वह बहुत ही चक्करदार मालूम हुआ। उन्होंने कहा, "आप लोग थोड़ी देर बैठिये। मैं अभी प्रबंध करने जाता हूं।"

यह कहकर दीवानजी कमरे से बाहर हो गये और हम लोग थोड़ी देर के लिए अपनी उपस्थिति की 'चंद्रकांता-संतति' के दृश्यों से तुलना करने के लिए स्वतंत्र हो गये। दिल में कितनी घबराहट रही हो, पर प्रत्यक्ष में हम काफी उत्साह से हंसते रहे।

थोड़ी देर में दीवानजी लौटकर आये और कहा कि चलिये, गाड़ी

हाजिर है। जब दरवाजे पर पहुंचे, तो पहरे के सिपाहियों ने बाकायदा सलामी दी। सामने देखा तो सड़क पर एक बहुत शानदार लैंडो गाड़ी खड़ी हुई थी, जिसमें चौकड़ी जुती हुई थी। दो वरदीधारी सिपाही पीछे और एक आगे कोचवान के पास तैनात थे। कोचवान भी पूरे वेश में था। दीवानजी ने हमको गाड़ी में बिठलाते हुए कहा, "सामान आपको स्टेशन पर मिल जायगा।"

गाड़ी चल दी, तो प्रेमचंदजी खूब जोर से हंसे और बोले कि ऐसी गाड़ी बनारस में है, यह मैंने पहली बार जाना है। इसपर मैं चढ़ूंगा, यह मुझे स्वप्न में भी खयाल नहीं था। इस प्रकार परिस्थिति पर विनोद करते हुए जब स्टेशन पर पहुंचे, तो देखते क्या हैं कि हमारा सामान प्लेटफार्म पर पड़ा है और रियासत के दो सिपाही उसकी रक्षा कर रहे हैं। हम लोगों ने गाड़ी से उतरकर अपना सामान संभाल लिया। मेरी पत्नी ने शिष्टाचार को पूरा करते हुए कोचवान को और सिपाहियों को दो-दो रुपये इनाम में दिये। हमें छोड़कर प्रेमचंदजी को वह गाड़ी उनके घर तक पहुंचाने गई और हम दिल्ली की गाड़ी पर सवार हो गये।

उस समय हम यह पूछना भूल गये कि जिनकी कृपा से हमारा आतिथ्य हुआ, वह रानीसाहिबा किस रियासत की थीं। कुछ वर्ष पीछे दीवान महोदय का पत्र आया। उसमें उन्होंने यह दुखद समाचार लिखा कि वह देवी, जो बसौली की राजमाता थीं, स्वर्गलोक सिधार गई हैं और इस कारण दीवानजी की नौकरी भी छूट गई।

: १४ :

देवदास गांधी

जनश्रुति प्रसिद्ध है कि प्रकृति मनुष्यों के निर्माण में दो पीढ़ियों में अपना हिसाब पूरा कर लेती है। इंग्लैंड के प्रसिद्ध लेखक और वक्ता लार्ड मैकॉले के पिता के बारे में कहा गया है कि वह बहुत कम बोलते थे, यहांतक कि उनके बोलने की औसत घंटे में चार वाक्यों की होती थी और लार्ड मैकॉले ? वह तो पहले दर्जे के वावदूक थे। उन्हें चाय-गोष्ठी का तानाशाह कहा जाता था। पिता और पुत्र में थोड़ी-बहुत समानता तो रहती है, परंतु अधिकतर विषमताएं ही पाई जाती हैं। अपवाद हो सकता है, परंतु सामान्य नियम यह है कि पिता और पुत्र का 'टाइप' एक होते हुए भी रूप बदल जाता है। श्री देवदास गांधी इस नियम के अपवाद नहीं थे। वह सामान्य नियम के बढ़िया दृष्टांत थे। उनकी रूपरेखा वही थी, जो उनके जगद्विदित पिता श्री मोहनदास करमचंद गांधी की थी, परंतु उसमें भरे हुए रंग बहुत-कुछ भिन्न थे। यह बात स्पष्टता से मैंने तब अनुभव की, जब १९३० के नमक-सत्याग्रह में हम दोनों कई महीने तक दिल्ली के डिस्ट्रिक्ट जेल में साथ-साथ रहे। मनोवैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से जेल को अत्यंत उपयुक्त परीक्षण-शाला कह सकते हैं। वहां कोई व्यक्ति देरतक मुंह पर नकाब नहीं रख सकता। जल्दी या देर में उसका असली रूप प्रकट हो ही जाता है। यही कारण है कि स्वाधीनता-संग्राम की जेल-यात्राओं में सत्याग्रही देश-भक्तों ने परस्पर व्यवहार द्वारा कई पूज्य मूर्तियों को टूटते और कइयों को बनते देखा। जेल में मनुष्य के आंतरिक गुण और अवगुण सात परदों को फाड़कर बाहर निकल आते हैं। मैं अपना सौभाग्य समझता हूं कि मनोविज्ञान की उस प्रयोगशाला में मुझे अनेक महापुरुषों के सूक्ष्म

निरीक्षण का अवसर मिला । देवदासजी का पूरा परिचय भी मुझे जेल में ही मिला ।

यों वह मेरा और उनका प्रथम परिचय नहीं था । प्रथम परिचय गंगा-पार की गुरुकुल भूमि में हुआ था। जब महात्माजी ने दक्षिण अफरीका से निवृत्त होकर भारत को अपना कार्यक्षेत्र बनाने का निश्चय किया, तो उन्होंने यहां आने से पूर्व अपने आश्रम के बालकों को गुरुकुल कांगड़ी में कुछ समय तक निवास के लिए भेज दिया था। उन बालकों में देवदास-जी भी थे। उस समय हम लोगों पर उनकी सौम्यता का बहुत गहरा असर हुआ । प्रार्थना के समय वह बड़ी तन्मयता से भजन गाते थे। वह अपनी आयु के अन्य बालकों से विशेष समझदार प्रतीत होते थे ।

कुछ महीनों तक गुरुकुल में रहकर आश्रम के सब छात्र साबरमती चले गये, जहां महात्माजी का प्रसिद्ध 'सत्याग्रह-आश्रम' स्थापित हो रहा था । उसके पश्चात बहुत समय तक देवदासजी से मिलने का अवसर नहीं मिला। मैं गुरुकुल छोड़कर दिल्ली आ गया और अध्यापक से पत्रकार बन गया। देवदासजी भी दक्षिण में हिंदी-प्रचार का कार्य करके अंत में दिल्ली आ गये और यहां के सार्वजनिक जीवन में भाग लेने लगे। दिल्ली में रहकर भी बहुत दिनों तक हम दोनों को परस्पर मिलने का अवसर नहीं मिला ।

१९३० के अंत में देश-भर में नमक-सत्याग्रम-संग्राम का बिगुल बज गया। मुझे दिल्ली के अधिकारी सत्याग्रह आरंभ करने से कुछ पहले ही जेल में ले गये थे। मेरे जेल जाने पर दिल्ली में एक सार्वजनिक सभा हुई। उसमें देवदासजी का भी भाषण हुआ । उस भाषण में देवदासजी ने मेरे संबंध में कुछ शब्द कहते हुए एक ऐसे तार को हिला दिया, जिसकी झंकार मुझे जेल की ऊंची दीवारों के अंदर भी सुनाई दे गई। उन्होंने लोगों को देशभक्ति के एक गीत के कुछ पद सुनाकर कहा, "यह गीत इंद्रजी का बनाया हुआ है और इसे हमने तब याद किया था, जब हम छात्रावस्था में गुरुकुल में रहे थे। तब यह गीत प्रार्थना के समय गुरुकुल में गाया जाता था और अब सत्याग्रह-आश्रम में गाया जाता है ।" गीत का प्रारंभिक पद यह था :

ऐ मातृभूमि, तेरे चरणों में सिर नवाऊं !

मुझे जेल में देवदासजी के भाषण का समाचार सुनकर दो बातें याद आ गईं। एक तो याद आ गई उनकी वह सौम्य मूर्ति, जो पहले-पहल गुरुकुल में देखी थी और दूसरी याद आ गई यह बात कि सचमुच मैंने एक ऐसा गीत लिखा था। मैं तो उस गीत को सर्वथा भूल ही गया था। मैंने छात्रावस्था में हिंदी और संस्कृत में कविताएं और गीतियां लिखी अवश्य थीं, परंतु मैं कवि नहीं हूं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि मुझे अपनी बनाई कविताएं याद नहीं रहतीं। यह भी याद नहीं है कि कोई कविता लिखी भी थी। जब अपनी पूर्वावस्था की लिखी कविता को सुनता हूं, तो ऐसा भान होता है कि यह कविता कभी सुनी थी। देवदासजी ने लगभग २० वर्षों के पश्चात मुझे स्मरण करा दिया कि मैं कभी कविता भी किया करता था।

इसके लगभग एक सप्ताह पश्चात देवदासजी अनेक अन्य मित्रों के साथ जेल में आ गये। हम सब लोग दिल्ली जेल की पुरानी गोरा बारक में ठहराये गये थे। उन दिनों जेल के दरोगा पं० बधावाराम थे, जिन्हें हम हरिण्यकशिपु की पुरी में प्रह्लाद भक्त की उपाधि दिया करते थे।

कई वर्षों के पश्चात देवदासजी के बाह्य आकार को बहुत बदला हुआ देखकर पहले कुछ आश्चर्य हुआ। उनका शरीर भारी हो गया था और बापू के हल्के शरीर से मेल नहीं खाता था। आंखों के नीचे-ऊपर के आवरणों में कुछ भारीपन दिखाई देता था। मैंने अपने मन में युवा देवदासजी का जो महात्माजी के अनुरूप चित्र खींच रखा था, उससे कुछ भिन्न पाया। परंतु जब कुछ दिन रहकर अधिक परिचय प्राप्त हुआ, तब दो बातें स्पष्टता से अनुभव होने लगीं। एक यह कि ऊपर दिनचर्या में देवदासजी अपने पिता से बहुत ही भिन्न हैं और दूसरी यह कि स्वभाव और शील में वह दीपक से जले हुए दीपक के समान पिता के सदृश ही उज्ज्वल हैं। उन दिनों उनकी दिनचर्या यह थी कि प्रातःकाल वह सूर्योदय के साथ या कुछ पीछे सोकर उठते थे। महात्माजी सुबह तीन बजे उठनेवाले और देवदासजी सूर्योदय की प्रतीक्षा करनेवाले। दर्शकों को बड़ा भेद प्रतीत होता था। धीरे-धीरे नित्यकर्म

होने लगते थे। उन्हें दातुन-स्नान आदि में जल्दी करते कभी नहीं देखा। सब काम धीरे-धीरे, धैर्य से, हाथी की चाल से होते थे। स्वाध्याय आदि से निवृत्त होकर अपने जेल के साथियों के प्रत्येक हास्य-विनोद में शामिल होते थे। कैरम के तो अचूक खिलाड़ी थे। शायद वॉलीवाल में भी शामिल होते थे। वायलिन वजाने का उन्हें वेहद शौक था। पं० ववावाराम के सौजन्य से जेल में हमें कोई वस्तु अप्राप्य नहीं थी। ननकानासाहव के महंत नारायण दास उन दिनों दफ्तर के कैदी नंवरदार थे। उनकी मार्फत शहर से वायलिन मंगवाया गया। रात के समय देवदासजी वायलिन वजाकर अपना और हम सवका दिल वहलाते थे। खाने में भी वह अपने साथियों का साथ देते थे। उन्हें कभी "यह नहीं" "वह नहीं" के चक्कर में पड़ते नहीं देखा।

यह थी उनकी वाह्य दिनचर्या। आंतरिक गुणों में वह अपने पूज्य पिताजी के प्रतिविंव थे। यदि जेल में कोई रोगी हुआ, तो उसकी सेवा के लिए सदा तत्पर रहते थे। सहानुभूति उनके व्यवहार का मूल मंत्र था। मीठा वोल और मीठा व्यवहार, इन दो गुणों के कारण वह जेल में विद्यमान लगभग दो सौ कैदियों में अत्यंत प्रिय थे। इन सामाजिक प्रवृत्तियों से जो समय वचता था, वह स्वाध्याय में व्यतीत करते थे। अपने स्वभाव की मधुरता के कारण वह जेल-भर के लाड़ले वन गये।

जेल से आकर फिर चिरकाल तक उनसे मिलने का अधिक अवसर नहीं मिला। अवसर तव आया, जव वह भी मेरी तरह पत्रकार श्रेणी में आ गये। 'हिंदुस्तान टाइम्स' के मैनेजिंग डायरेक्टर वनकर वह अंग्रेजी के प्रभावशाली पत्रकारों में गिने जाने लगे। पत्रकार के नाते उनसे कई वार मिलना हुआ। सदा उनकी दोनों प्रारंभिक प्रवृत्तियों को वढ़ते हुए पाया। शरीर निरंतर भारी होता गया और आंखों के आवरणों पर भारीपन का असर होता गया। शारीरिक विशेषताओं के साथ उनकी व्यावहारिक आदर्शप्रियता और मधुर दृढ़ता में भी वृद्धि होती गई।

व्यावहारिक आदर्शप्रियता से मेरा अभिप्राय यह है कि देवदासजी के आदर्श वही थे, जो महात्माजी के थे, परंतु उनमें व्यावहारिकता का

प्रगाढ़ मिश्रण था। यदि पिता और पुत्र की आदर्शप्रियता को पृथक-पृथक समझना हो, तो हम कह सकते हैं कि महात्माजी में आदर्शों की प्रधानता थी और देवदास में व्यावहारिकता की। इसी प्रकार दोनों की दृढ़ता और मधुरता का अनुपात भी भिन्न था। महात्माजी में दृढ़ता की मुख्यता थी और देवदासजी में मधुरता की प्रधानता थी। फलतः देवदासजी सत्याग्रहाश्रम में पलकर भी कुशल व्यापारी और स्नेही गृहस्थ बन गये।

देवदासजी ने बाकायदा किसी कालेज में शिक्षा नहीं पाई थी, फिर भी स्वभावसिद्ध प्रतिभा, बापू के संसर्ग और स्वाध्याय ने उनकी योग्यता को बहुत ऊंचे स्तर पर पहुंचा दिया था। अंग्रेजी पत्र-संचालकों में उनका इतना मान था कि वह पर्याप्त समय तक 'अखिल भारतीय संपादक मंडल' के सभापति रहे। विशेष बात यह थी कि ऊंचे पद पर पहुंचकर भी उनके स्वभाव में रूखेपन या गर्व का प्रवेश नहीं हुआ। वह अंततक अत्यंत समझदारी और नरम स्वभाव के लिए प्रख्यात रहे।

उनकी व्यावहारिक मधुरता का एक मौलिक कारण यह था कि वह स्वभाव से खिलाड़ी (स्पोर्ट्समैन) थे। कई खेलों में अभिरुचि रखते थे। जो मनुष्य खिलाड़ी है, उसके स्वभाव में एक प्रकार की अनासक्ति और उसमें उत्पन्न होनेवाली नरमी आ जाती है। वह जीतना भी जानता है और हारना भी। वह जीतकर हारनेवाले से हाथ मिला सकता है और हारकर जीतनेवाले को 'नमस्कार' कर सकता है। देवदासजी एक पूजनीय और कठोर आदर्शप्रेमी के उत्तराधिकारी होकर भी यदि कटुता से रहित जीवन व्यतीत कर सके, तो उसका कारण उनका खिलाड़ीपन था।

कभी-कभी गुण भी दोष हो जाता है। देवदासजी के स्वभाव की नरमी ने उन्हें सदा अपने स्वास्थ्य के प्रति लापरवाह रखा। कार्य और उत्तरदायित्व का बोझ बढ़ता गया, परंतु शरीर की शक्ति ढीली पड़ती गई। उनकी अकाल मृत्यु का यही कारण हुआ।

: १५ :

मेरे पिता

जब मैंने होश संभाला, तब मैं अपनी ताईजी की गोद में पल रहा था। मैं अभी दो ही वर्ष का था कि मेरी प्रात:स्मरणीया माता का देहांत हो गया। उनका नाम शिवदेवी था। जब माता का देहांत हुआ, तब हम चारों भाई-बहन छोटे-छोटे थे।

माताजी ने मृत्यु से पूर्व हमारे हाथ ताईजी के हाथ में देते हुए कहा था, "बहनजी, मैं इन्हें आपके सुपुर्द करती हूं।" ताईजी के अपनी कोई संतान नहीं थी। उन्होंने पूरे मातृभाव से हम लोगों को अपनी गोद में ले लिया। मैं सबसे छोटा था, इस कारण मुझे उनकी गोद की अन्य सब भाई-बहनों से अधिक आवश्यकता थी। वह गोद मुझे मिल गई।

पिताजी की गृहस्थी राजा जनक के राज्य-जैसी थी। पिताजी गृहस्थी में रहते हुए भी गृहस्थी से बाहर रहते थे। उनका शयन-गृह हम लोगों से बिलकुल अलग था। सब बच्चे ताईजी के पास सोया करते थे। पिताजी का शयन-गृह हमारे लिए एक बंद मंदिर के समान था। जब कभी उसमें आंख बचाकर घुस जाते थे, तब आश्चर्य से सब चीजों को देखा करते। थोड़ी मात्रा में किसी चीज का रखना तो पिताजी की तबीयत में था ही नहीं। कपड़ों की एक बड़ी अलमारी थी। ऐसा याद आता है कि उसमें बड़ी-बड़ी चालीस-पचास दराजें होंगी।

पिताजी हम लोगों के उठने से बहुत पहले उठकर बाहर चले जाते थे। जाने की सूचना हम लोगों को उनकी खड़ाऊं की आवाज से मिलती थी। खड़ाऊं की आवाज में एक अद्‌भुत विशेपता थी, जिसका अनुभव केवल हम ही लोगों को नहीं हुआ, गुरुकुल कांगड़ी के उन सब ब्रह्मचारियों को भी हुआ, जिन्होंने पिताजी के आचार्यत्व-काल में गुरुकुल में शिक्षा

प्राप्त की थी। उन लोगों के लिए खड़ाऊं की वह आवाज एक विशेष संदेश लाती थी। वह निराश को आशा देती थी, उपद्रवी पर आतंक बिठा देती थी और कुलवासियों को सूचना देती थी कि इस घर का कोई मालिक है। उस आवाज को सुनकर हम बच्चों को यह अनुभव होता रहता था कि हमारे पिता घर में ही हैं और हमारी देख-भाल कर रहे हैं। अन्यथा दिन-पर-दिन निकलते जाते थे और हम लोगों को पिताजी का साक्षात्कार करने का अवसर नहीं मिलता था।

पिताजी की दिनचर्या असाधारण अवश्य थी, परंतु उस समय हम लोग उसका कोई महत्व नहीं समझते थे। ताईजी के बार-बार कहने से इतना ही समझते थे कि बाबूजी बाहर के कामों में अधिक लगे रहते हैं और घर की ओर कम ध्यान देते हैं।

मेरी अवस्था उस समय लगभग आठ वर्ष की होगी, जब पिताजी के जीवन का हम लोगों के जीवन पर दृश्यमान असर पड़ने लगा। जैसे एक बड़े जहाज के पीछे बंधी हुई छोटी नौकाएं हठात समुद्र में इधर-से-उधर अठखेलियां करती हैं, उसी प्रकार आनेवाले कुछ वर्षों में हम दोनों भाई भी पिताजी के जीवन में उठती हुई लहरों पर इधर-से-उधर और उधर-से-इधर घटना-चक्र के साथ घूमते रहे। उस समय तक हम केवल इतना-ही जानते थे कि पिताजी घर में अनुपस्थित रहते हैं और उन्हें आर्य-समाज का काम अधिक रहता है। अब हम यह भी अनुभव करने लगे कि पिताजी घर को छोड़ते जाते हैं और किसी ऐसी दिशा में जा रहे हैं, जिधर हमारे समवयस्क अन्य बालकों के पिता नहीं जा रहे।

पिताजी के जीवन में क्रांति के बीज बहुत काल से बोये जा चुके थे। बरेली में ऋषि दयानंद के दर्शनों ने क्रांति का जो बीज बोया, वह धीरे-धीरे अंकुरित होकर पल्लवित हो रहा था।

पिताजी प्रायः लाहौर जाते रहते थे। अधिकतर आर्य-समाज के काम से और कभी-कभी मुकदमों के प्रसंग में लाहौर जाते थे, तो दूसरे या तीसरे दिन वापस आ जाते थे। वापस आने की गाड़ी की सूचना जाते हुए दे जाते थे। ठीक समय पर घोड़ागाड़ी स्टेशन पर पहुंच जाती थी। पिताजी के घर आने की सूचना हम लोगों को अनायास ही मिल

जाती थी, क्योंकि गाड़ी पर से उतारकर विस्तर और यात्रा का अन्य सामान अंदर लाया जाता था ।

एक दिन हम लोग वहुत आश्चर्यान्वित हो गये, क्योंकि पिताजी का सामान गाड़ी से उतारकर घर नहीं लाया गया । कोचवान ने अंदर आकर कहा कि वावूजी ने अपना सामान आर्य-समाज-मंदिर में ही उतरवा लिया है और कहा है कि घर पर जाकर खवर कर दो । वावूजी घर पर नहीं आये और समाज-मंदिर में उतर गये हैं, इस समाचार ने घर-भर में तहलका-सा मचा दिया । ताईजी पहले तो स्तव्ध-सी रह गईं, फिर पिताजी के इस अनौचित्य पर काफी जोरदार टिप्पणी करने लगीं । हम चारों वच्चे घवराकर ताईजी के चारों ओर इकट्ठे हो गये । नौकर एक ओर खड़ा आंखों से आंसू वहा रहा था । हमारे तायाजी, जो परिवार के मौनवारी सदस्य थे, कुछ समय पीछे हाथ में हुक्का लिये हुए ड्योढ़ी से घर के अंदर आये और ताईजी को दिलासा देने लगे । जहांतक मुझे याद है, उनके दिये हुए दिलासे का यह सारांश था कि मुंशीराम हमेशा से ऐसा ही रहा है, जो दिल में आता है वही करता है । तुम चिंता न करो, अपने-आप घर आ जायगा । परंतु ताईजी घर के मामले में ऐसे वैराग्य से संतुष्ट होनेवाली नहीं थीं । उन्हें यह संदेह हुआ कि पिताजी किसी वात से नाराज होकर घर नहीं आ रहे हैं । कुछ समय के पश्चात उन्होंने निश्चय किया कि समाज-मंदिर में जाकर नाराजगी का कारण पूछा जाय । वह वहां गईं । उनकी घवराहट देखकर शांत करते हुए प्रारंभ में ही पिताजी ने कहा, "भाभी, मैंने लाहौर में प्रतिज्ञा कर ली है कि जवतक गुरुकुल वनाने के लिए तीस हजार रुपया इकट्ठा न कर लूंगा, तवतक घर में पैर नहीं रखूंगा । इसी कारण समाज में ठहरा हूं, घवराने की कोई वात नहीं ।"

इस आश्वासन से ताईजी का मन थोड़ा-वहुत शांत हो गया और उन्हें शांत देखकर हम लोग भी शांत हो गये । यह सर्वमेध-यज्ञ का प्रथम चरण था ।

पिताजी चंदे के लिए देश-भर में पर्यटन करने लगे । उनके पीछे 'सद्धर्मप्रचारक' का संपादन लाला वजीरचंद और प्रेस का प्रवंध लाला

बस्तीराम करते थे। वकालत के मुंशी उदयसिंह छुट्टी पर चले गये और घर की गाड़ी पुरानी लीक पर ताईजी के नेतृत्व में चलने लगी। घर वही था, परंतु उस घर के मध्य भाग—बगीची, दफ्तर, बैठक और अतिथि-गृह—में सुनसान हो जाने से चारों ओर सन्नाटा प्रतीत होता था। बच्चों को बगीची में से गुजरते डर लगता था।

आज तीस हजार रुपया इकट्ठा करना बच्चों का खेल मालूम होता है, परंतु उस समय तीस हजार की राशि एकत्र करना असंभव-सा प्रतीत होता था। जब हितैषियों ने पिताजी की सुनी, तो यह समझा कि इस व्यक्ति का दिमाग फिर गया है। लोग यह भी नहीं जानते थे कि 'गुरुकुल' किस चिड़िया का नाम है। रुपया भी बहुत महंगा था, परंतु आर्य-जनता को असाधारण हर्ष हुआ, जब उन्हें सूचना मिली कि लगभग छः महीनों में दान की राशि तीस हजार से बढ़ गई है।

हम लोगों को चंदे की राशि पूरी होने का समाचार गुजरानवाला गुरुकुल में मिला। इसी बीच में एक बार हमारे ताबाजी गुजरानवाला आये और दोनों भाइयों को लाहौर ले गये। गुरुकुल के चंदे का दौरा लगभग समाप्त करके पिताजी लाहौर के आर्य होटल में ठहरे हुए थे। हम दोनों भाई उस रात जीवन में पहली बार अपने पिताजी के दोनों ओर चारपाइयों पर सोये। उस रात सोने से पहले पिताजी हमारी चारपाइयों पर आये और हमें प्रत्यक्ष में प्यार किया। वह अनुभव हमारे बाल्य-जीवन में बिलकुल अपूर्व था, अन्यथा सदा पिताजी हमसे दूर-दूर रहकर वात्सल्य-भाव रखते रहे। कभी उसे अनुभव में नहीं आने दिया। उस रात उन्होंने प्रेम से हम दोनों के सिरों को चूमा। हम दोनों भाइयों ने उस समय मानो स्वर्गीय सुख का अनुभव किया।

अगले दिन हम लोग गुजरानवाला वापस भेज दिये गये और पिताजी प्रतिज्ञा पूरी करके अपने घर वापस आ गये। जालंधर में उनका अभूत-पूर्व स्वागत हुआ। उसके पश्चात उन्होंने कोठी में प्रवेश किया, परंतु वह प्रवेश त्याग के लिए था, भोग के लिए नहीं। त्याग की ओर उनकी प्रवृत्ति तो पहले ही बढ़ रही थी। सिगरेट, हुक्का और पान तक एक के पीछे दूसरा विदा हो चुके थे। कोट, पेंट और नेकटाई उन लोगों में बांट

दिये गये थे, जिन्हें उनकी आवश्यकता थी और बूट की जगह गमाशाही जूता आ गया था। यह काया पलट गुरुकुल कांगड़ी में जाने से पहले ही हो चुका था।

उन्हीं दिनों पिताजी को विजनौर जिले से संदेश प्राप्त हुआ कि वहां के एक जमींदार मुंशी अमनसिंह गंगा-पार का एक पूरा गांव, जिसके साथ ७०० वीवा जमीन है, गुरुकुल वनाने के लिए देना चाहते हैं। प्यासे को मानो पानी का ठंडा स्रोत मिल गया। पिताजी तो ऐसी भूमि की तलाश में ही थे। वह तुरंत विजनौर गये और आर्य-प्रतिनिधि-सभा के नाम कांगड़ी ग्राम रजिस्ट्री करवा लिया।

गांव गंगा की धार से लगभग डेढ़ मील की दूरी पर शिवालक पहाड़ की तलहटी में था। गांव के साथ लगी हुई भूमि पहाड़ की तलहटी से लेकर गंगा-तट तक फैली हुई थी। पिताजी को गुरुकुल के लिए वह स्थान आदर्श प्रतीत हुआ। गांव से दूर ठीक गंगा-तट पर घने और कंटीले जंगल के मध्य में लगभग दो वीघा जमीन के टुकड़े को साफ कराकर उसमें आश्रम के लिए छप्पर डालना थोड़े ही दिनों का काम था, विशेषतः जबकि पिताजी-जैसा धुन का पक्का और अनथक आदमी उस कार्य को शीघ्र पूरा करने पर तुल गया हो।

जब छप्पर तैयार हो गये और पं० गंगादत्तजी आचार्य के रूप में बच्चों को संभालने के लिए गुरुकुल कांगड़ी पहुंच गये, तब आर्य-प्रतिनिधि सभा की अनुमति से पिताजी गुजरानवाला आये, और लगभग दर्जन-भर बालकों को साथ लेकर लाहौर ठहरते हुए हरिद्वार की ओर रवाना हो गये। यह था हमारे गुरुकुलीय जीवन का आरंभ।

उस समय गुरुकुल कांगड़ी में केवल फूस के छप्पर थे। गुरुकुल के उद्घाटन के पश्चात एक वर्ष के अंदर कच्ची दीवारों और टीन के छतों-वाले शेड बनने आरंभ हो गये थे। हमारे रहने का स्थान खैर और बेरी के घने जंगलों से घिरा हुआ था। कहीं-कहीं विल्व के पेड़ थे। जिन लोगों ने पुरानी गुरुकुल भूमि को देखा है, उन्हें मालूम है कि इन तीनों प्रकार के पेड़ों की बहुतायत के कारण वह जंगल वस्तुतः 'कंटकाकीर्ण' शब्द का अधिकारी था। नीचे कांटे, ऊपर कांटे और चारों ओर कांटे

—इस प्रकार वह जंगल कंटकमय था, रहने के स्थान से दस कदम बाहर जाने के लिए कांटेदार पगडंडियों को पार करना पड़ता था। रात को जब अंधेरे का राज्य हो जाता था, तब कभी-कभी हमारे आश्रम के आंगन में और प्रधानजी (मुख्याधिष्ठाताजी) के तंबू की छतरी के नीचे स्यारों का हुंकार सुनाई देता था। किसी-किसी दिन यह समाचार भी मिल जाता था कि कल रात को किसी कुत्ते या लवारे को गुलदार (छोटा शेर) उठा ले गया। स्नान के लिए सिर्फ गंगा की धारा थी और क्रीड़ा-क्षेत्र का काम गंगा-तट की बालू से लिया जाता था। ऐसी दुनिया में हम रहते थे, परंतु आज भी लगभग पचास वर्ष बीत जाने पर मैं उन दिनों का स्मरण करता हूं, तो वे बहुत ही सुंदर और सुखमय प्रतीत होते हैं। गुरुकुल में बहुत से परिवर्तन आते रहे, फूस के झोंपड़े इमारत के रूप में परिणत हो गये, पगडंडियों का स्थान सड़कों ने ले लिया। स्नान के लिए स्नानागार बन गये और गुरुकुल की इमारतें बगीचों और हरे मैदानों से घिर गईं, तो भी यह ध्यान में नहीं आता कि गुरुकुल में हमने उतना आनंद अनुभव किया हो, जितना उस प्रारंभिक काल में किया था।

समय व्यतीत होने के साथ-साथ वह जीवन भी बदलता गया। जो परिवर्तन हुए, उन्हें हम यदि किसी एक परिभाषा के अंतर्गत लाना चाहें, तो वह शब्द नवीनता है। बाहर की दुनिया तो इतना ही जानती है कि गुरुकुल के पहले प्रोस्पेक्टस में ही पूर्व और पश्चिम के मिश्रण की कल्पना जनता के सामने रखी गई थी। वह समझेगी कि उसी कल्पना के अनुसार धीरे-धीरे गुरुकुल में प्राचीन, नवीन, पूर्व और पश्चिम, आपस में मिलते गये, जिसका अंतिम फल हम वर्तमान गुरुकुल में देख रहे हैं। परंतु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। संसार के अन्य परिवर्तनों की तरह गुरुकुल का रूप-परिवर्तन भी लंबे समुद्र-मंथन का ही परिणाम था।

सबसे पहला परिवर्तन मिट्टी के तेल के उपयोग के संबंध में था। जब उसका प्रचार गुरुकुल में फैला, तो एक विराट आंदोलन शुरू हो गया। इस आंदोलन के मुखिया उस समय के आचार्य पं० गंगादत्तजी थे। पीछे से तो उनके विचारों में काफी परिवर्तन आ गया था, परंतु उस समय वह पूरे अपरिवर्तनवादी थे।

इस आंदोलन में कड़वे तेल के पक्ष में और मिट्टी के तेल के विरोध में बहुत-सी युक्तियां दी जाती थीं। कहा जाता था कि कड़वे तेल का धुआं आंखों में सुरमे का काम देता है और मिट्टी के तेल का धुआं आंखों और फेफड़ों के लिए जहर का असर रखता है। हम लोगों की सहानुभूति प्रारंभ में अपरिवर्तनवादियों के साथ थी।

जो चर्चाएं हम लोगों के सामने होती थीं, उनमें मान लिया जाता था कि प्रधानजी (पिताजी) सर्वथा निर्दोष हैं, लोग उन्हें बहका देते हैं और वह सीधे होने के कारण उनकी बातों में आ जाते हैं। यह आंदोलन कई महीनों तक जारी रहा। ब्रह्मचारियों में मिट्टी के तेल के प्रति विरोध की भावना बहुत उग्र रूप में पैदा की गई। यह अच्छा था कि अभी महात्मा गांधी ने भारत के सार्वजनिक जीवन में निष्क्रिय प्रतिरोध और कानून-भंग की फसल नहीं बोई थी और ब्रह्मचारियों में प्रधानजी के प्रति बहुत श्रद्धा का भाव बना हुआ था। इसका परिणाम यह हुआ कि जब प्रधानजी की आज्ञा से मिस्त्री मग्घरसिंह कमरों में बड़ी लालटेन लटकाने के लिए आया, तो कोई अप्रिय घटना नहीं हुई और चुपके से मिट्टी के तेल के रूप में पाश्चात्य सभ्यता ने पूर्वी सभ्यता के दुर्ग में प्रवेश कर लिया।

दूसरा परिवर्तन चिकित्सा-पद्धति के संबंध में था। गुरुकुल के पुराने प्रेमी जानते हैं कि प्रारंभ काल में गुरुकुल में मलेरिया का प्रबल साम्राज्य था। बरसात के पश्चात पनबाड़, भंग और जंगली बूटियों से सारा प्रदेश भर जाता था, गढ़ों में भरा हुआ पानी भी सड़ने लगता था। फल यह होता था कि वायुमंडल मलेरिया से परिपूर्ण हो जाता था। मुझे याद है कि कभी-कभी तो सब-के-सब ब्रह्मचारी बुखार में पड़ जाते थे। पहले एक-दो साल तक तो मलेरिया का लोक-प्रसिद्ध इलाज घरू तरीके पर होता रहा। प्रधानजी कुनीन की गोलियां लेकर श्रेणियों में आ जाते थे, आयु के अनुसार मात्रा में ज्वर-पीड़ित ब्रह्मचारियों को गोलियां खिलाकर ऊपर से नींबू की शिकन्जबी पिला देते थे। शायद दो वर्ष तक कुनीन का प्रयोग चलता रहा। कुनीन खुश्क और गरम है। वह ब्रह्मचर्य के लिए हानिकारक है और वैद्यक सिद्धांतों के विरुद्ध है। इसके पीने से बुढ़ापे

में सुनने की शक्ति जाती रहती है और बुखार भी वार-बार आता है। ये सब दलीलें थीं, जिनके आधार पर कुनीन का विरोध किया जाता था। ब्रह्मचारियों की कुनीन के विरुद्ध सबसे बड़ी यही शिकायत थी कि वह बहुत ही बेस्वाद है। शेष सब युक्तियों की भी सहायता लेकर ब्रह्मचारियों ने कानून के विरुद्ध सर्वसम्मति कर ली। एक तो आचार्य और स्टाफ के कई अन्य कार्यकर्ताओं का विरोध और दूसरे ब्रह्मचारियों की अनिच्छा, परिणाम यह हुआ कि कुछ समय पश्चात गुरुकुल से कुनीन का प्रयोग उठ गया। उन दिनों नजीबाबाद के एक सज्जन, जिनका नाम डॉ० लक्ष्मीनारायण था, गुरुकुल में रहा करते थे। वह कहलाते थे डॉक्टर, परंतु एलोपैथी के विरोध में आंदोलन करने में नंबर एक थे। कुनीन का निर्वासन हो जाने पर ब्रह्मचारियों का इलाज संभवतः आयुर्वेदिक पद्धति से होता था। संभवतः शब्द का प्रयोग मैंने इसीलिए किया है कि हमारे आचार्य-जी की एक टोकरी में से ही सब दवाएं निकला करती थीं। उस समय तो पूछा नहीं कि कैसी दवाएं हैं, अब अनुमान से समझता हूं कि आयुर्वेदिक होंगी। दो-एक प्रयोग याद हैं। कब्ज होने पर जमालगोटे की गोली और किसी तरह का बुखार होने पर कुचले की गोली दी जाती थी। हम सब पर समय-समय पर इन दवाओं का प्रयोग किया गया था।

१९०२ में गंगा के तट पर गुरुकुल का उद्घाटन हुआ था। १९०६ में गुरुकुल का दूसरा दौर शुरू हुआ। १९०६ से १९१० के मध्य में गुरुकुल के रूप में लगभग क्रांति हो गई। गुरुकुल विद्यालय तथा महाविद्यालय इन दो भागों में विभक्त हो गया। विद्यालय की पाठावधि १० वर्षों में बांटी गई और महाविद्यालय की ४ वर्षों में। इस समय सोचने पर अनुभव होता है कि यूनिवर्सिटियों की कड़ी आलोचना करते हुए भी उस समय हमने सोलहों आने यूनिवर्सिटियों के बाह्य रूप को अपना लिया। शायद उस समय कोई दूसरा मार्ग भी नहीं था। पाठशाला की पुरानी पद्धति बदली क्योंकि पुरानी शैली बदलती हुई नई परिस्थितियों के अनुरूप नहीं थी। उसे जारी रखने का अभिप्राय यह होता कि गुरुकुल तान का तून ही बना रहता और ब्रह्मचारी कूप-मंडूक होते। दूसरी कोई पद्धति आविर्भूत नहीं हुई थी। जो

महानुभाव गुरुकुल को विश्वविद्यालय का रूप देना चाहते थे, उनमें से किसी-को यह अवसर नहीं मिला कि वह पाठशाला और स्कूल के मध्य का कोई मार्ग निकाल सकते। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी मुहावरे के अनुसार नई बोतलों में पुरानी दवा भरने का यत्न प्रारंभ हो गया।

पिताजी का जीवन एक अत्यंत प्रगतिशील जीवन था। शायद ही कोई पांच साल ऐसे हों, जिनमें उस जीवन की दृश्यावली में पूरा परिवर्तन न हो गया हो। दृश्य निरंतर बदलते जाते थे और सबसे महत्वपूर्ण बात थी कि वे परिवर्तन पिताजी की ही इच्छा-शक्ति और प्रयत्न से होते थे। पिताजी परिस्थितियों को पैदा करते थे, उनके बहाव में नहीं थे।

नौकरशाही शासन में जो झुकना या सलाम करना नहीं जाने, वह संदेह की दृष्टि से देखा जाता था। गुरुकुल के अधिकारियों और ब्रह्मचारियों का सबसे बड़ा दोष यही था कि वे न सरकार से कुछ मांगते थे और न अफसरों की दहलीज पर सिर झुकाना आवश्यक समझते थे। गुरुकुल पर सरकार की यह संदेह दृष्टि अनेक बातों में प्रकट होती थी। गुरुकुल में दर्शक-रूप से आनेवाले खुफिया पुलिस के ऊंचे अधिकारियों का तांता लगा रहता था। जब कभी गुरुकुल के ब्रह्मचारी सरस्वती-यात्राओं पर निकलते थे, तब उनके पीछे-पीछे गुप्तचर बुलडाग की तरह लगे रहते थे और गुरुकुल के जो कार्य सरकार के सहयोग की अपेक्षा करते थे, उसमें रोड़े अटकाये जाते थे।

पिताजी ने इस परिस्थिति को भांप लिया, उन्हें प्रतीत हो गया कि मानसिक निर्बलता और झूठी रिपोर्टों के आधार पर सरकार के अधिकारी व्यर्थ में ही गुरुकुल पर संदेह करने लगे हैं, इससे गुरुकुल को क्षति पहुंच सकती है।

गुरुकुल की रक्षा को वह अपना धर्म समझते थे। उन्होंने निश्चय किया कि गुरुकुल की रक्षा के लिए अधिकारियों के मन में से निराधार संदेह की भावना को निकाल फेंकना अत्यंत आवश्यक है। अधूरापन पिताजी की तबीयत में नहीं था। कोई कार्य वह आधे दिल से नहीं करते थे। जब उन्होंने निश्चय कर लिया कि अधिकारियों के मन में से गुरु-

कुल के प्रति संदेह को दूर करना है, तो फिर वह विजनौर के कलैक्टर तक रुकनेवाले नहीं थे। कलैक्टर से कमिश्नर, कमिश्नर से गवर्नर और गवर्नर से वाइसराय तक पहुंचने में अधिक देर नहीं लगी। परिणाम यह हुआ कि जिस गुरुकुल पर ताले लगाने के लिए वारंटों पर हस्ताक्षर हो चुके थे, उसे देखने आकर सब अधिकारियों ने उसकी मुक्त-कंठ से प्रशंसा की। पिताजी ने जिस भावना से सरकारी अधिकारियों को गुरुकुल में निमंत्रित किया, उसे जो लोग नहीं समझ सके, उन्होंने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सम्मति प्रकट की।

पिताजी की एक और विशेषता उनकी स्पष्टवादिता थी। वह इतनी प्रकट और निर्विवाद थी कि उनके भक्त और विरोधी दोनों ही उसे स्वीकार करते थे। भक्त उसे उनका सबसे बड़ा गुण मानते थे और विरोधी सबसे बड़ा दोष। सार्वजनिक जीवन में किसी बात को या किसी चीज को वह गुप्त नहीं मानते थे। जिसके विषय में जो राय रखते थे, वह न केवल सब लोगों के सामने बिलकुल निस्संकोच भाव से कह देते थे, बल्कि अगर दिल में आ गया, तो 'सद्धर्मप्रचारक' में भी लिख देते थे। यह उनके स्वभाव का एक आवश्यक टुकड़ा था।

वह सार्वजनिक जीवन की जिस दिशा में चले जाते थे, वहां वह अपने नैसर्गिक गुणों से बहुत शीघ्र अगली पंक्ति में आ जाते थे और सबसे ऊंचे दिखाई देने लगते थे। जैसे उन्होंने अपने आत्म-चरित में अपने बचपन और यौवन के सब दोष खुली पुस्तक की तरह खोलकर रख दिये हैं, उसी प्रकार वह सार्वजनिक जीवन में अन्य कार्यकर्ताओं के दोषों को भी निस्संकोच भाव से कह डालते थे। उनके सहसा ऊंचे उठ जाने से सहयोगियों में जो नैसर्गिक ईर्ष्या उत्पन्न होती थी, वह उनकी स्पष्टवादिता के कारण भड़क उठती थी और आज जो सहयोगी मालूम पड़ता था, वह कल कड़ा आलोचक बन जाता था। किसी विशेष परिस्थिति के आने पर, जब पिताजी कोई नई छलांग मार जाते थे, तो उनके पुराने साथी खाई के इसी ओर मुंह ताकते रह जाते थे और पीछे रहने के समर्थन में प्रायः पिताजी के कार्यों की आलोचना किया करते थे।

कहीं पाठक यह न समझ लें कि जब पिताजी आलोचनाओं से इतने

अधिक परेशान हो जाते थे, तो फिर काम कैसे करते होंगे ? यही तो एक मनोवैज्ञानिक चमत्कार था। जैसे कीचड़ में से कमल निकल आता है, ऐसे ही उनकी दुख या उदासीनता की लहरों में से कोई नया रत्न निकल आता था। गुरुकुल की योजना, सर्वमेध-यज्ञ, संन्यास और सत्याग्रह-प्रवेश आदि सब जीवन की क्रांतिकारिणी घटनाएं ऐसे ही मानसिक मंथन का परिणाम थीं।

इस प्रसंग में पिताजी की वक्तृत्व-शैली के संबंध में कुछ शब्द कह देना अप्रासंगिक न होगा। वह भारतवर्ष में अपने समय के कुछ ऐसे वक्ताओं में से थे, जिन्हें जनता पर प्रभाव उत्पन्न करनेवाला सर्वमान्य वक्ता कहा जा सकता है। वर्षोंतक लाहौर के बच्छोवाली आर्य-समाज के वार्षिकोत्सव पर उनका व्याख्यान उत्सव का सबसे अधिक महत्वपूर्ण और लोकप्रिय भाग माना जाता था। गुरुकुल के उत्सव पर उनके व्याख्यान के समय अधिक-से-अधिक भीड़ रहती थी और अधिक-से-अधिक सन्नाटा रहता था। संन्यास लेने के पश्चात जब वह राजनीति में प्रविष्ट होकर सत्याग्रह-आंदोलन के अगुआ बने, तब सब बड़ी सार्वजनिक सभाओं में उनका बोलना आवश्यक था। जामा मस्जिद के मिंबर पर हो या पीपल पार्क की व्याख्यान-वेदी पर, हिंदू-मुसलमानों की सम्मिलित भीड़ उन्हें सुनने के लिए लालायित रहती थी।

पिताजी की इस सफलता का रहस्य क्या था ? इस प्रश्न का उत्तर संक्षेप में यह है कि वह केवल तब बोलने के लिए खड़े होते थे, जब उनके अंदर से कोई प्रेरणा उठती थी। श्रद्धा और गहरी धार्मिक भावना के कारण उनकी आंतरिक प्रेरणा सदा गंभीर और तेजस्विनी होती थी। प्रेरणा से प्रेरित होकर वह जो कुछ कहते थे, वह श्रोताओं के हृदयों को चीरता हुआ चला जाता था। साथ ही पिताजी का विशाल शरीर, भव्य मूर्ति और गंभीर तथा ऊंचा स्वर भी उन्हें जनता के हृदयों तक पहुंचने में सहायता देता था।

१९१७ के अप्रैल मास में गुरुकुलोत्सव से एक दिन पहले प्रातःकाल के समय पिताजी ने मुझे अपने बंगले पर बुलाकर सूचना दी कि मैंने कल संन्यास लेने का निश्चय कर लिया है।

यह समाचार मुझे अन्य मार्गों से पहले ही मिल चुका था कि पिताजी संन्यास लेंगे। अवसर मिलने पर मुझे जो-जो आपत्तियां उठानी थीं, वे भी मैंने पहले से मन में तैयार कर रखी थीं। वह आपत्तियां निम्न प्रकार की थीं :

संन्यास की प्रथा देश और जाति के लिए बहुत हानिकारक है। आप तो पहले ही संन्यासी हैं, वेष बदलने से क्या लाभ? संन्यास ले लेने पर भी आपको सार्वजनिक कामों के झंझट से छुट्टी नहीं मिलेगी। मेरे इन तर्कों से पिताजी आश्चर्यचकित जरूर हुए, हां, इतना संतोष अवश्य हुआ कि वह दुखित अथवा रुष्ट नहीं हुए। अपने संन्यास लेने के पक्ष में उन्होंने बहुत-सी बातें मुझे समझाईं। देरतक मैं संदेह की दशा में ही बना रहा। किंतु जब अंत में पिताजी ने गंभीर भाव से कहा, "इंद्र, तुझे तो मालूम ही है कि मैं युक्ति के आधार पर कोई कदम नहीं उठाता, केवल श्रद्धा से प्रेरित होकर ही उठाता हूं। यह निश्चय भी मैंने श्रद्धावश ही किया है। मेरा यह निश्चय अटल है।" तब मैंने मौन होकर सिर झुका दिया।

पिताजी के संन्यास-आश्रम में प्रवेश के समाचार को लोगों ने अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में सुना। मुझसे अनेक सज्जनों ने उस विषय में बातचीत की, जिससे मैं उनकी भावनाओं को भली प्रकार भांप सका। सामान्य आर्य-जनता बहुत संतुष्ट और प्रसन्न थी। उसे पिताजी के त्यागमय जीवन का यह अंतिम चरण उचित ही प्रतीत होता था। गुरुकुल और सभा के कुछ मुख्य अधिकारियों के संतोष और प्रसन्नता के भाव में कुछ थोड़ा-सा यह संकुचित भाव मिश्रित प्रतीत होता था कि महात्माजी के संन्यास लेकर गुरुकुल से अलग हो जाने पर एक बड़ा लाभ यह होगा कि उन लोगों को गुरुकुल का इच्छानुसार संचालन करने का खुला मौका मिलेगा। पिताजी के विशाल व्यक्तित्व से वे अपने मार्ग को रुका हुआ समझते थे। निजी बातचीत में ऐसे लोग अपने भाव को काफी स्पष्टता से प्रकाशित कर रहे थे। सभा के मुख्य अधिकारियों में जो सबसे ऊंचे अधिकारी थे, उन्हें पिताजी के संन्यास लेने के विचार-मात्र से ही अत्यंत दुखी पाया।

गंगा के उस पार मायापुर वाटिका में संन्यास-ग्रहण समारोह

हुआ। गुरुकुल के उत्सव में उपस्थिति प्रायः सभी नर-नारी मायापुर में ठहर गये। संस्कार के समय हजारों की भीड़ थी। आर्य-समाज के बहुत-से संन्यासी, पंडित तथा अधिकारी साक्षी-रूप से उपस्थित थे।

संस्कार में सबसे विशेष बात यह हुई कि पिताजी ने किसी महानुभाव को अपना आचार्य न बनाकर परमात्मा को ही आचार्य माना और जो प्रक्रिया आचार्य द्वारा होनी चाहिए थी, वह स्वयं ही पूरी कर ली। इसपर कुछ संन्यासियों और पुराने ढंग के रूढ़िवादी आर्य लोगों में भी काफ़ी असंतोष उत्पन्न हुआ। हल्की-बुड़बुड़ाहट भी सुनाई दी। परंतु जब पिताजी क्षौर कराकर और विधिपूर्वक भगवा वेष पहनकर यज्ञ मंडप में आये, तो चारों ओर से जो प्रसन्नता-सूचक जयकारों और तालियों की गड़गड़ाहटका शब्द उठा, उसमें सब विरोधी भावनाएं दब गईं। अंत में पिताजी ने खड़े होकर निम्नलिखित आशय की घोषणा की :

"मैं सदा सब निश्चय परमात्मा की प्रेरणा से श्रद्धापूर्वक ही करता रहा हूं। मैंने संन्यास भी श्रद्धा की भावना से प्रेरित होकर ही लिया है। इस कारण मैंने 'श्रद्धानंद नाम धारण करके संन्यास में प्रवेश किया है। आप सब नर-नारी प्रभु से प्रार्थना करें कि वह मुझे अपने इस नये व्रत को पूर्णता से निभाने की शक्ति दें।"

स्वामीजी अबतक क्रियात्मक राजनीति से सर्वथा अलग रहते थे। उन्हें कोरी राजनीति में अणुमात्र भी श्रद्धा नहीं थी। उसे वह केवल 'प्रदर्शन' मानते थे। गांधीजी की तपस्यात्मक राजनीति के मैदान में आते ही स्वामीजी का हृदय उस ओर झुक गया। जब महात्मा गांधी भारत के वाइसराय से मिलने दिल्ली आये, तो स्वामीजी ने उनसे भेंट की। उस भेंट का पूरा विवरण तो प्राप्त नहीं है, हां उस भेंट के पश्चात स्वामीजी ने मुझे यह बतलाया कि यदि महात्मा गांधी ने सत्याग्रह आरंभ किया, तो मैंने उन्हें आश्वासन दिया है कि मैं उनका साथ दूंगा। स्वामीजी दिल्ली की सत्याग्रही सेना के प्रथम सैनिक और प्रकृति-सिद्ध गुणों के अनुसार प्रथम मार्ग-दर्शक बन गये। वाइसराय की ओर से महात्मा गांधी को कोरा उत्तर मिला और उन्होंने सत्याग्रह आरंभ करने की घोषणा करदी, तो दिल्ली में भी सत्याग्रह कमेटी स्थापित हो

गई। स्वामीजी के पीछे-पीछे मैं भी उसमें सम्मिलित हो गया।

सत्याग्रह की लड़ाई का पहला कदम यह था कि देश भर में एक निश्चत दिवस 'प्रार्थना दिवस' के रूप में मनाया जाय, जिसमें आम हड़ताल हो, सब लोग दिन भर का उपवास करें और ईश्वर से देश के कल्याण की प्रार्थना करें। इस पग के उठाने में दिल्ली की सत्याग्रह कमेटी सबसे तेज रही। अभी महात्मा गांधी ने हड़ताल का दिन निश्चित नहीं किया था कि दिल्ली सत्याग्रह कमेटी ने यह घोषणा कर दी कि ३० मार्च को शहर में पूरी हड़ताल होगी और उपवास रखा जायगा।

३० मार्च का दिन शुभ लक्षणों के साथ प्रारंभ हुआ। प्रातःकाल उठते ही चारों ओर पूरी हड़ताल के दृश्य दिखाई दिये। सब बाजार एकदम बंद थे। हजार में से नौ-सौ नब्बे दूकानें खुली ही नहीं थीं। क्या मुसलमान, क्या सिख और क्या जैनी, सबने एकदम हड़ताल कर दी थी। दो-तीन स्वयंसेवक स्टेशन के दूकानदारों को दूकानें बंद करने की प्रेरणा करने लगे। दूकानदार दूकान बंद करने को तैयार हो गये। इतने में ठेकेदार आ गया और उसने हड़ताल करने से इन्कार कर दिया। इस समय स्टेशन पर काफी भीड़ इकट्ठी हो चुकी थी। उसे देखकर रेलवे पुलिस का सुपरिन्टेंडेंट वहां आकर लोगों को धमकाने लगा। इसपर दो-एक आदमियों ने जवाब दे दिया। साहब ने सीटी देकर पुलिस इकट्ठी कर ली और दो आदमियों को गिरफ्तार करके स्टेशन की हवालात में बंद करा दिया। यह समाचार शहर में फैल गया कि स्टेशन पर दो स्वयंसेवक पकड़े गये हैं।

जो सभा पीपल पार्क में चार बजे शुरू होनेवाली थी, वह अढ़ाई बजे ही आरंभ कर देनी पड़ी। पीपल पार्क के शेष भाग में अभी धूप थी, इस कारण पत्थरवाले कुएं के पास बनारसी कृष्णा मैन्शन की छाया में लोग बैठ गये और वहीं सभा आरंभ हुई। कुछ कविताएं पढ़ी गईं, जिनके पश्चात पिताजी जनता को शांति का उपदेश देने के लिए खड़े हुए। उसी समय गोली चलने की आवाज सुनाई दी, और थोड़ी देर बाद घबराये हुए लोग भागकर आये। उनसे मालूम हुआ कि पुलिस ने घंटाघर पर एकत्र हुई जनता पर गोली चला दी है, जिससे बहुत-से व्यक्ति

घायल हो गये हैं। इस समाचार से लोगों में हलचल-सी मच गई और वे हिलने लगे। उन्हें समझा-बुझाकर शांत किया जा रहा था कि इतने-में उत्तर दिशा से घुड़सवार सेना का एक दस्ता सभा की ओर बढ़ता दिखाई दिया। सन '५७ की क्रांति के बाद शायद यह पहला अवसर था कि दिल्ली के निवासियों पर सेना चढ़ाई करती हुई दिखाई दी। जनता ने जिस धैर्य से उस दृश्य का सामना किया, वह प्रशंसनीय था। लोग अपनी जगह पर बैठे प्रतीक्षा करने लगे कि आगे क्या होगा? सेना की टुकड़ी सभा के पास आकर रुक गई। उनके अफसर ने आगे बढ़कर पूछा, "यहां क्या हो रहा है?" स्वामीजी उस समय व्याख्यान दे रहे थे। उन्होंने अफसर को अंग्रेजी में समझाया कि यह सभा हो रही है और मैं लोगों को शांत रहने का उपदेश दे रहा हूं। इस उत्तर से वह अफसर किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो गया और कुछ देर तक चुप रहकर बोला, "अच्छा तो आप लोग अमन से जलसा करते रहिये, हम जाते हैं।" यह कहकर वह सिपाहियों को लेकर चला गया। सभा जारी रही।

जब उस दिन की सभा समाप्त हुई, तब आकाश में संध्या का अंधेरा छा चुका था। शांति का उपदेश चार-पांच घंटे तक सुनकर जनता अशांति के प्रभाव से निकल चुकी थी। दिन की घटनाओं से जो विक्षोभ उत्पन्न हुआ था, वह सत्याग्रह के संदेश से कुछ शांत हो गया था। सभा-स्थान से आगे-आगे स्वामीजी चले और उनके पीछे "भारत माता की जय, हिंदू-मुसलमान की जय" आदि नारे लगाती हुई जनता चली। वह लगभग बीस-पच्चीस हजार की भीड़ एक क्रम में बंधकर फव्वारे से होती हुई घंटाघर की ओर जा रही थी और उसके पीछे-पीछे कई मशीनगनें और बहुत-से घुड़सवार सिपाही, मानो पहरा देते जा रहे थे। मैं भी उस भीड़ की अगली श्रेणी में, स्वामीजी की दाईं ओर चल रहा था। इससे जो घटना घंटाघर पर हुई, वह मैंने पूरी तरह आंखों से देखी।

सारी घटना लगभग पांच मिनट में समाप्त हो गई। जब जन-समुदाय घंटाघर तक पहुंच गया, तब देखा कि कुछ लोग कंपनी बाग की ओर तेजी से आगे बढ़ते जा रहे थे। सिपाही भीड़ को अपनी ओर आता देखकर कुछ घबरा गये और तीन-चार कदम पीछे हटकर अपनी बंदूकों को ऐसे

ढंग से सम्हालने लगे, जैसे गोली छोड़ने के समय सम्हालते हैं। उस समय उनका अफसर वहां नहीं था, इस कारण वे किंकर्तव्यविमूढ़-से हो रहे थे कि इतने में एक बंदूक चल गई। सरकार का बयान था कि वह 'मिस फायर' था, अर्थात गोली भूल से चल गई थी। यह सर्वथा संभव है कि गोली भूल से चल गई हो। लोग गोली की आवाज से विक्षुब्ध हो गये। स्वामीजी ने लोगों को वहीं ठहरने और खड़े रहने का आदेश दिया और स्वयं आगे बढ़कर सिपाहियों की कतार के ठीक सामने जाकर खड़े हो गये। सिपाही आश्चर्यचकित थे कि क्या करें!

स्वामीजी ने सिपाहियों से पूछा, "तुमने गोली क्यों चलाई ?"

इस प्रश्न का कोई उत्तर न देकर कई सिपाहियों ने अपनी बंदूकों की संगीनें स्वामीजी की ओर बढ़ाते हुए कहा, "हट जाओ, नहीं तो हम छेद देंगे।" स्वामीजी एक कदम और बढ़ गये। अब संगीन की नोक स्वामीजी की छाती को छू रही थी। स्वामीजी ने बड़े ऊंचे स्वर में कहा, "मार दो !" और वहीं खड़े रहे।

यह दृश्य शायद मिनट-भर रहा होगा। इतने में एक अंग्रेज अफसर घोड़ा भगाये हुए वहां आया। उसके आने पर सिपाहियों ने बंदूकें नीची कर लीं। स्वामीजी ने अफसर से पूछा, "गोली क्यों चलाई गई ?"

अफसर ने बहुत अस्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया, "गोली भूल से चल गई थी।" साथ ही उसने सिपाहियों को पीछे हटकर भीड़ के लिए रास्ता छोड़ने का हुक्म दे दिया। सिपाही पीछे हट गये। जनता ने फिर अपना कोलाहलपूर्ण प्रयाण जारी रखा। यह जुलूस नये बाजार में श्रद्धानंद भवन की इमारत तक गया। स्वामीजी सीढ़ियों पर चढ़ गये और लोग अपने-अपने घरों को चले गये।

यह कहने में जरा-सी भी अत्युक्ति नहीं है कि ३० मार्च की घटनाओं ने केवल दिल्ली निवासियों में ही नहीं, प्रत्युत भारत के बहुत बड़े भाग में मानसिक क्रांति पैदा कर दी थी। उस दिन सायंकाल के समय जो भावना जनता में उत्पन्न हो गई थी, उसे देखते हुए हम कह सकते हैं कि उस दिन के बाद बारह घंटों में जो परिवर्तन आया, सामान्य रूप से वह बारह वर्षों में भी न आता। यह ठीक है, लहू पानी की कोठियों ने जिन

लोगों को घायल अथवा शहीद किया, उनमें हिंदू भी थे और मुसलमान भी। दोनों का लहू बहकर मिल गया। इस रक्त-मिश्रण ने चमत्कार कर दिखाया। ३१ मार्च के प्रातःकाल मानो हिंदू और मुसलमान का भेद मिट चुका। "हम" शब्द से 'ह' से हिंदू और 'म' मुसलमान का ग्रहण करके एकता के बंधन की घोषणा करने का रिवाज उसी समय से चला है। ३१ मार्च के प्रातःकाल ३० मार्च को गोली से आहत हुए एक मुसलमान का जनाजा निकला। दिल्ली निवासियों को अपने हृदय में भरे हुए रोष और जोश को प्रकाशित करने का अच्छा अवसर मिला। जनाजा जब घंटाघर के पास पहुंचा, तब लगभग उसके साथ दो लाख की भीड़ थी। भीड़ में हिंदू अधिक थे या मुसलमान, यह कहना कठिन है। जनाजे के साथ स्वामी श्रद्धानंदजी भी थे और हकीम अजमल खां भी। दिल्ली की इन दोनों विभूतियों का प्रथम साक्षात्कार जनाजे के जलूस में ही हुआ।

अगले दिन सिविल हस्पताल से पांच शहीदों की लाशें मिलीं। उनमें से दो मुसलमान थे और तीन हिंदू। कुछ दूर तक पांचों अर्थियां साथ-साथ चलीं। चांदनी चौक से भीड़ दो हिस्सों में बंट गई। मुसलमानों का जनाजा ईदगाह की ओर चला और हिंदुओं की अर्थियां यमुनाजी की ओर। ईदगाह और निगमबोध पर बेतहाशा भीड़ थी। दोनों जगह देशभक्ति और एकता पर व्याख्यान हो रहे थे।

इस जोश की चरम सीमा उस समय प्रकट हुई, जब ४ अप्रैल के दिन दोपहर बाद की नमाज के पीछे जामा मस्जिद में मुसलमानों का एक विशाल जलसा हो रहा था। उसमें मौलाना अब्दुल्ला चूड़ीवाले ने आवाज देकर कहा, "स्वामी श्रद्धानंदजी की तकरीर भी होनी चाहिए। "नारा-ए-तकबीर" से मस्जिद गूंज उठी। दो-तीन जोशीले नौजवान उठे और तांगे पर जाकर नये बाजार से स्वामीजी को लिवा लाये। "अल्ला-हो-अकबर" के नारों के साथ स्वामीजी मस्जिद की वेदी पर आरूढ़ हुए। शायद यह भारत के ही नहीं, इस्लाम के इतिहास में पहला अवसर था कि एक मुसलमानेतर व्यक्ति ने जामा मस्जिद की वेदी पर से वाज़ किया। स्वामीजी ने ऋग्वेद के एक मंत्र से अपना व्याख्यान आरंभ किया और

'ओं शांतिः शांतिः' के साथ समाप्त किया। ६ अप्रैल को फतहपुरी मस्जिद में भी स्वामीजी का भाषण हुआ।

१९१९ के अंत में अमृतसर में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, उसने देश की राजनीति में युग-परिवर्तन कर दिया था। उन चार-पांच दिनों में भारत में तिलक-युग का अंत और गांधी-युग का आरंभ हुआ। मैं इसे अपना सौभाग्य समझता हूं कि मुझे उस युग-परिवर्तन के महान दृश्य को साक्षात देखने का अवसर मिला। मैंने वहां जो कुछ देखा, उसे यथासंभव ठीक-ठीक अंकित करने का यत्न करता हूं।

कांग्रेस का यह अधिवेशन बड़ा महत्वपूर्ण था। यह अधिवेशन उस समय किया गया था, जब पंजाब के वक्षःस्थल पर मार्शल लॉ की संगीनों द्वारा किये हुए घाव हरे थे और जनरल डायर के हुक्म से जलियांवाला बाग में चलाई गई बंदूकों की प्रतिध्वनि अभी शांत नहीं हुई थी। उस समय देश के तीव्र विक्षोभ और क्रोध को प्रकट करने के लिए राष्ट्रीय महासभा का वृहद अधिवेशन बुलाया गया था। उसके स्वागताध्यक्ष और सभापति क्रमशः युवाकाल के पुराने सहपाठी स्वामी श्रद्धानंदजी और पंडित मोतीलाल नेहरू नियुक्त हुए थे। जब यह निश्चय किया गया कि कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में हो, तब सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह खड़ा हुआ कि उसके प्रबंध की जिम्मेदारी कौन ले। समय की कमी और कार्य की कठिनाइयों को देखकर कांग्रेस के अन्य कार्यकर्ता घबरा रहे थे। अंत में स्वामीजी के पास दिल्ली में एक संदेश भेजकर पूछा गया, "क्या आप इस भारी उत्तरदायित्व को उठा सकेंगे ?" स्वामीजी ने अपनी प्रकृति के अनुसार तत्काल उत्तर दिया कि यदि यह उत्तरदायित्व मुझपर डाला जायगा, तो मैं उसे अवश्य उठा लूंगा।

मार्शल लॉ की सब घटनाओं की जिस कमेटी ने छानबीन की थी, पंडित मोतीलालजी उसके अध्यक्ष थे। कानूनी और नैतिक योग्यता की दृष्टि से उनसे बढ़िया अध्यक्ष मिलना कठिन था। इस कारण वह वृहद अधिवेशन के सभापति निर्वाचित किये गये।

अमृतसर में नेताओं के पहुंचने पर मुख्य प्रस्ताव के संबंध में मतभेदों की चर्चा ने शीघ्र ही उग्र रूप धारण कर लिया। तीन नेताओं में

तेजी से मोर्चाबंदी शुरू हो गई। बीच-बचाव करने के लिए जो व्यक्ति कार्य कर रहे थे, उनमें तीन प्रमुख थे। श्रीमती एनी बेसेंट, पंडित मदन-मोहन मालवीय और स्वागताध्यक्ष की हैसियत से पिताजी।

१९२६ में कौन्सिलों के नये चुनाव हुए। कांग्रेस ने अपने उम्मीदवार खड़े किये। इधर पं० मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय ने हिंदू-हितों की रक्षा के लिए नैशनलिस्ट पार्टी की योजना की और कई प्रांतों में कांग्रेस के विरोध में अपने उम्मीदवार खड़े किये। पिताजी मुख्य रूप से राजनैतिक व्यक्ति नहीं थे, हां राजनीति उनके धर्म का एक भाग अवश्य थी। उनका राजनीति-संबंधी धर्म महात्मा गांधी के समानांतर था। जब नैशनलिस्ट पार्टी की स्थापना हुई और मालवीयजी और लालाजी ने हिंदू-हितों के नाम पर स्वामीजी से सहयोग मांगा, तो एक विचित्र परिस्थिति पैदा हो गई। कई दिनों तक विचार-संघर्ष जारी रहा। पिताजी कांग्रेस की सांप्रदायिक नीति से असहमत थे। वह इस परिणाम पर पहुंच चुके थे कि उस समय कांग्रेस हिंदू-हितों को दबाकर मुसलमानों को संतुष्ट रखना चाहती है। पिताजी का मत था कि इस नीति से भारत की सांप्रदायिक समस्या सुलझने के स्थान पर और अधिक उलझेगी, क्योंकि अन्याय के आधार पर किया गया समझौता कभी स्थायी नहीं होता। दूसरी ओर सांप्रदायिक संस्था की ओर से राजनैतिक चुनाव लड़ने और कांग्रेस का विरोध करने से वह सहमत नहीं थे। कई दिनों तक पिताजी के हृदय में समुद्र-मंथन जारी रहा, जिसके एक-एक उतार-चढ़ाव को देखने का मुझे अवसर मिला। बात यह थी कि १९२६ में चुनाव ने राष्ट्रवादियों के घरों तक में विचार-संघर्ष से उत्पन्न होनेवाली फूट के बीज बो दिये थे। मैं चुनाव में कांग्रेस का पूरा सोलहों आने समर्थक था, और मेरे कुछ साथी, जो अबतक मेरे साथ सौ फी सदी सहमति रखते थे, नैशनलिस्ट पार्टी के समर्थक बन गये थे। पिताजी को मालवीयजी, लालाजी और वे नौजवान साथी नैशनलिस्ट पार्टी के समर्थन में खड़ा करना चाहते थे। स्वभाव से मैं उनके प्रयत्नों की काट करता रहता था। अंत में मामला यहांतक गंभीर समझा गया कि लालाजी को तार देकर लाहौर से बुलाया गया और मेरी जिद को तोड़ने के लिए लालाजी की उपस्थिति

में पिताजी के पास मुझे बुलाकर पेश किया गया। लालाजी ने मुझे बहुत-कुछ समझाया। मैं उन्हें पिताजी के समान मानता था। मैंने आदरपूर्वक उनकी बात सुनी और विनयपूर्वक अपना निवेदन किया।

अंत में लालाजी ने मुझसे जो कहा, उसका अभिप्राय यह था, "इस समय प्रत्येक हिंदू का कर्तव्य है कि वह चुनाव में नैशनलिस्ट पार्टी के उम्मीदवारों की मदद करे। दिल्ली से कांग्रेस ने मि० आसिफ़अली को खड़ा किया है। नैशनलिस्ट पार्टी लाला शिवनारायण का समर्थन कर रही है। तुम्हें मालूम होना चाहिए कि स्वामीजी ने लाला शिवनारायण का समर्थन करना स्वीकार कर लिया है और हमें इजाजत दे दी है कि हम उनके समर्थकों में स्वामीजी का नाम भी दे दें। तुमसे मैं उम्मीद करता हूं कि तुम अब मि० आसिफ़अली का समर्थन छोड़ दोगे। अन्य कोई कारण नहीं, तो लिहाज के कारण ही तुम्हें अब कांग्रेस का समर्थन न करना चाहिए।"

मेरे सामने बहुत बड़ा धर्म-संकट था। लालाजी और स्वामीजी दोनों को मैं पूजा के योग्य मानता था उनमें से एक की भी बात को टालने की शक्ति मुझमें नहीं थी। जब दोनों एकमत हों, तो मैं क्या करूं? पर जो लोग किसी सम्मति पर पहुंचने में देर लगाते हैं, वे उसे छोड़ते भी देर में हैं। मैं भी उन्हीं सुस्त आदमियों में रहा हूं। मैंने लालाजी से निवेदन किया, "मेरे लिए आपकी आज्ञा उतनी ही बड़ी है, जितनी बड़ी स्वामीजी की आज्ञा, परंतु ऐसे मंतव्य-संबंधी विषयों में मुझे स्वामीजी ने सदा स्वतंत्र रखा है। इसी बल पर मैं अपने मंतव्य के अनुसार चलने का साहस करता रहा हूं। मुझे आशा है, आप भी मुझे इतना अधिकार देंगे कि मैं अपनी आत्मा के शब्दों को अनसुना न करूं। मेरा मंतव्य है कि राजनैतिक चुनाव में कांग्रेस का समर्थन करना प्रत्येक भारतवासी का कर्तव्य है।"

मैंने देखा कि मेरी बातें सुनकर लालाजी के चेहरे पर क्रोध का चिह्न नहीं दिखाई दिया, प्रत्युत उन्होंने हल्के से अभिमान-मिश्रित संतोष के साथ स्वामीजी की ओर देखा। स्वामीजी ने मुस्कराकर कहा, "इंद्र ठीक कहता है। मैंने इसे विचार और कार्य की पूरी स्वतंत्रता दे

रखी है ।"

लालाजी और पिताजी दोनों ही अत्यंत भावुक थे । लालाजी ने भरे हुए गले से कहा, "इंद्र, जो अधिकार तुम्हें स्वाजीमी ने दे रखा है, उसे मैं कैसे छीन सकता हूं ? तुम अपने विचार के अनुसार कार्य करो, परंतु याद रखो कि इस चुनाव में तुम्हें कामयावी न होगी । हम दोनों लाला शिव-नारायण के समर्थक हैं ।" मैंने प्रसन्नतापूर्वक कहा, "वह तो मैं भी समझता हूं, परंतु मैं प्रयत्न में कोई कसर नहीं छोड़ूंगा, सफलता ईश्वराधीन है ।"

चुनाव खूव जोर से लड़ा गया । परिणाम ने दोनों ओर से आशावाद को व्यर्थ कर दिया । चुनाव में न कांग्रेस के उम्मीदवार सफल हुए और न नैशनलिस्ट पार्टी के उम्मीदवार । सफल हो गये एक तीसरे व्यक्ति, जिन्होंने हिंदू-हितों के नाम पर हिंदू नेताओं धता वतलाया था ।

उस चुनाव के सिलसिले में मैं दिल्ली में भी घूमा और दिल्ली से वाहर गोरखपुर आदि में भी गया । प्राय: सभी जगह मुझे स्वतंत्र डफली वजानी पड़ी । परंतु किसी स्थान पर भी मैंने यह अनुभव नहीं किया कि मैं पिताजी के विशाल दायरे से वाहर जा सकता हूं ।

वह चुनाव-कांड मेरे लिए वहुत दुखदायी था, क्योंकि उसमें मुझे उनके विरुद्ध कार्य करना पड़ा, जिन्हें मैं पूज्य मानता था । परंतु साथ ही संतोपप्रद भी हुआ, क्योंकि उसने मुझे पिताजी के हृदय की विशालता को पूरी तरह अनुभव करने का अवसर दिया ।

चुनाव के प्रसंग में मैं जहां भी गया, वहां पिताजी और लालाजी के हस्ताक्षरोंवाले पोस्टर सामने रख दिये जाते थे और पूछा जाता था कि आप स्वामीजी के विरोव में कांग्रेस का समर्थन करेंगे ? मेरा एक ही उत्तर था, "मुझे स्वामीजी ने आतमा के आदेश के अनुसार चलने की अनुमति दे दी है ।"

पिताजी को निमोनिया हो गया था । वह उसके भयंकर आक्रमण से निकल चुके थे, पर अभी इलाज जारी था और निर्वलता वहुत अधिक थी । परंतु रोग का सिर कट चुका था । मैं नित्य नियम के अनुसार दोपहर वाद वलिदान-भवन गया । 'अर्जुन'-कार्यालय, जहां मैं रहता था, वलिदान-भवन से वहुत दूर नहीं था, अधिक-से-अविक चार मिनट का पैदल रास्ता

होगा। पिताजी की तबीयत अच्छी थी। उस समय कुछ अन्य महानुभाव भी वहां बैठे थे। पिताजी को स्वास्थ्य-लाभ करते देखकर सभी प्रसन्न थे। पिताजी ने सारी बीमारी का बड़ी वीरता से सामना किया, परंतु एक बात इस बीमारी में उनकी जिह्वा पर रही। वह बार-बार कहते थे कि अब यह शरीर सेवा करने के योग्य नहीं रहा। अब तो एक ही इच्छा है कि अगले जन्म में ऐसा शरीर प्राप्त करूं कि जो धर्म की सेवा के काम आ सके। ऐसे ही भाव उस दिन भी पिताजी ने प्रकट किये। इसपर हम सबने निवेदन किया कि अब तो कोई खतरे की बात नहीं है। डॉ० अन्सारी ने भी कह दिया है कि रोग जा चुका है, कुछ ही दिनों में आप सर्वथा स्वस्थ हो जायेंगे। पिताजी ने मुस्कराकर जो उत्तर दिया, उसका आशय यह था कि होगा तो वही जो भगवान चाहें, मैं तो केवल अपनी इच्छा प्रकट कर रहा हूं।

थोड़ी देर तक बातचीत करने के पश्चात हम लोग उठ गये, क्योंकि पिताजी के नित्य-कर्म से निवृत्त होने का समय हो गया था। केवल उनका सेवक धर्मसिंह उनके पास रहता था। उसने चारपाई के पास कमोड रख दिया, पिताजी स्वयं उठकर शौचादि से निवृत्त हुए और फिर चारपाई पर लेट गये। हम लोग बलिदान-भवन के दूसरे हिस्से में थोड़ी देर बातचीत करके अपने-अपने स्थानों को चले गये।

मैं घर आकर चारपाई पर बैठा ही था कि बच्चा भागता हुआ आया और उसने घबराये हुए स्वर में कहा, "दादाजी को किसीने गोली मार दी।"

समाचार सुनकर मेरे पांव-तले से जमीन खिसक गई। परंतु समाचार के मानने और समझने में देर नहीं लगी, ऐसी आशंका तो कुछ दिन से हो ही रही थी।

मैं भागता हुआ भवन के नीचे पहुंचा, तो देखा कि कुछ आदमी इकट्ठे हो गये हैं और दो-चार ऊपर भी जा चुके हैं। मुझे देखकर सभी तरह-तरह के प्रश्न पूछने लगे। परंतु मैं किसीको उत्तर दिये बिना ही ऊपर चढ़ गया। वहां जाकर अंदर घुसते ही मेरी पहली नजर पिताजी की चारपाई पर पड़ी। पिताजी की आंखें बंद थीं, मानो सुखपूर्वक सोये हों। सामने

भगवे कुरते पर रक्त दिखाई दे रहा था, जो असली घटना की सूचना दे रहा था, अन्यथा पिताजी को देखकर एकदम यह अनुमान नहीं लगा सकता था कि वह सजीव नहीं हैं।

स्वभावतः मुझे अनुभव हुआ कि यह बड़ा भारी बलिदान है। जैसी कहानियां और घटनाएं इतिहास में पढ़ते आये थे, यह तो वैसी ही हो गई। मेरे पिताजी शहीद हो गये, वह अमर पदवी को प्राप्त हो गये, इस विचार ने मेरे दिल को भर दिया। इसे मनोविज्ञान के पंडित किस दृष्टि से देखेंगे ? शायद वह मेरी भावना को क्षुद्र ही समझेंगे, वह संभावना होते हुए भी यह स्वीकार कर लेने में मुझे संकोच नहीं कि इस विचार ने मेरे हृदय में अभिमान-मिश्रित संतोष की बाढ़-सी ला दी। परिणाम यह हुआ कि जबतक वह दिल्ली के इतिहास में स्मरणीय अर्थी का जलूस निगम-बोध घाट पर पहुंचकर, दाह-क्रिया करके वापस नहीं आ गया, तबतक मैं बिलकुल स्थिर रहा। मैंने उनके बिछोह को तब अनुभव किया, जब यमुना के तट से लौटकर और सहानुभूति प्रकट करनेवाले मित्रों से अवकाश पाकर मैं अकेला अपने लिखने के कमरे में पहुंचा। कमरे में मेरी बैठने की कुरसी के ऊपर पिताजी का बड़ा चित्र था और मैं था। उस समय मैंने एकदम अनुभव किया कि मैं अकेला रह गया। मेरे बड़े भाई पहले ही विलायत जाकर लापता हो चुके थे, पिताजी चले गये और अब इस तूफानी दुनिया में—आकाश और पृथ्वी के बीच—मैं अकेला लटकता रह गया। मन में यह भाव आते ही मेरा स्थिर भाव जाता रहा और आंसू मानो बांध को तोड़कर बह निकले।

३५१

०